आवरण पृष्ठ चित्र- जेरू रॉय

जुलाई-सितंबर 2025
अंक-02

वातायन
vatayan

वातायनम्

वातायन यूरोप की त्रैमासिक पत्रिका

www.vatayaneurope.com

कृष्णा सोबती जी की जन्म-शताब्दी पर विशेष
मित्रो मरजानी

संस्मरण
निर्मल वर्मा

क़िस्सागोई
नासिरा शर्मा

कविता
प्रो अनामिका, प्रो जितेन्द्र श्रीवास्तव
नीलेश रघुवंशी, संजीव कौशल, आस्था देव

कहानी
प्रो उषा प्रियंवदा, शैल अग्रवाल
नजमा उसमान, विवेक मिश्र

लघुकथा
सन्तोष सुपेकर, अरुण अर्णव खरे

व्यंग्य
हरीश नवल, सच्चिदानंद जोशी

ललित निबंध
मनोज कुमार श्रीवास्तव
डॉ गरिमा संजय दुबे

आलेख
आत्मा का आलाप: प्रो परिचय दास
गुमनाम शहीद की खोपड़ी: शिखा वार्ष्णेय

स्थायी स्तम्भ
छन्द-सलिला, साक्षात्कार, व्याकरण पुराण
नटखट नगरी, स्वास्थ्य

अन्तरराष्ट्रीय सहित्य (अनुवाद)
जापानी कहानी: डॉ अनुश्री

आंचलिक साहित्य
दसैँ (नेपाल),
मिंजर मेला-चंबा(हिमाचल प्रदेश)
गीत और आलेख(बज्जिका)

English
Artist of the Month: Jeroo Roy
Review: Mallika Ramachandran
Scientist turned Polymath:
Kusum Pant Joshi
Travel & Food: Shelley Williams

वातायनम्

संरक्षक
डॉ. पद्मेश गुप्त

प्रमुख संपादक
दिव्या माथुर

प्रबंध संपादक
अर्पणा संत सिंह

संपादन सहयोग
प्रो. रेखा सेठी (पद्य)
डॉ. वंदना मुकेश (गद्य)
अजेय जुगरान (आंचलिक साहित्य/अंग्रेज़ी)
ऋचा जैन (विश्व साहित्य)
प्रो. राजेश कुमार (भाषा)

क्रिएटिव मार्केटिंग मैनेजर
अंतरीपा ठाकुर मुखर्जी

वेब/तकनीकी विशेषज्ञ
शिवि श्रीवास्तव

कोषाध्यक्ष
एडवर्ड क्रास्क

सलाहकार
मीरा मिश्रा कौशिक, ओ.बी.ई.
डॉ. निखिल कौशिक
तितिक्षा दंड शाह

भारत में प्रतिनिधि
प्रो मधु चतुर्वेदी

वातायनम्- वसुधैव कुटुम्बकम्- वैश्विक साहित्यिक परिवार (A Global Literary Family)

युद्ध, संघर्ष और महामारी के दौर में साहित्यिक और सांस्कृतिक सौहार्द के सेतु के रूप में - वैश्विक साहित्यिक परिदृश्य में नई प्रासंगिकता के साथ साहित्य की आत्मा सभी को एक सूत्र में बाँध देती है, जहाँ भाषा, भूगोल और सांस्कृतिक सीमाएँ गौण हो जाती हैं। साहित्य, कला और दर्शन में शांति, सहिष्णुता और विविधता के विचारों का अन्वेषण, जिनमें साझा मानवता का संवाद है, तथा करुणा, संघर्ष, प्रेम, विस्थापन, स्मृति, पहचान और बेहतर भविष्य की आकांक्षा है। इस संवाद में हर लेखक, हर कलाकार, हर पाठक इस वैश्विक परिवार का अभिन्न अंग है।

वातायनम् का लक्ष्य है, अतीत की प्रेरणादायक रचनात्मक धरोहर, वर्तमान की आधुनिकता और नवीन प्रयोगधर्मिता की अनुभूतियों की सम्मिलित अभिव्यक्ति - जो भविष्य के लिए धरोहर हो, सेतु बने। हमारा प्रयास रहेगा कि वातायनम् केवल पारंपरिक साहित्य तक सीमित न रहे, बल्कि वह नए लेखन और नई प्रौद्योगिकी के साथ कदम से कदम मिलाकर विश्व की अन्य भाषाओं और साहित्य के साथ वैश्विक मंच स्थापित कर सके।

वेबसाइट : https://www.vatayaneurope.com
यू-ट्यूब : https://www.youtube.com/@vatayanuk
ई-मेल : vatayaneurope@gmail.com

वातायनम् में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने है, उससे वातायनम् टीम का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय 4
संस्मरण:
सुलगती टहनी (भाग 2): निर्मल वर्मा 5

उपन्यास अंश:
कृष्णा सोबती जी की जन्म शताब्दी पर विशेष:
मित्रो मरजानी 7

क़िस्सागोई:
दास्तानगोई (भाग-2): नासिरा शर्मा 23

कहानियाँ:
आधा शहर: डॉ उषा प्रियंवदा 26
आखेट: शैल अग्रवाल 44
पैरासाइट्स: नजमा उस्मान 50
डोंगी: विवेक मिश्र 53

लघुकथा:
विदेशी भैया: सन्तोष सुपेकर 59
इंजेक्शन: अरुण अर्णव खरे 59

कविताएँ:
बड़ी बहू हुदा इब्राहिम के लिए: अनामिका 60
माँएँ होती हैं चींटियाँ: संजीव कौशल 62
ओ मेरे देश!: डॉ जितेन्द्र श्रीवास्तव 63
मैं प्रवास हूँ: आस्था देव 64
पानी का स्वाद 65

ललित निबंध
वीर-बहूटी: मनोज कुमार श्रीवास्तव 66
राग यामिनी: निशा गीत: डॉ गरिमा संजय दुबे ... 69

आलेख:
गुमनाम शहीद की खोपड़ी: शिखा वार्ष्णेय 72
नृत्य : आत्मा का आलाप 76

व्यंग्य:
नवरात्रे और डाउन संस्कृति: हरीश नवल 79
मुख्य अतिथि की अर्हता: सच्चिदानंद जोशी 80

साक्षात्कार:
उषा वर्मा का साक्षात्कार: डॉ वंदना मुकेश 83

स्थायी स्तम्भ:
छन्द-सलिला: चौपाई: प्रो मधु चतुर्वेदी 86
व्याकरण पुराण:
भाषा - एक नदी: डॉ अशोक बत्रा 89
नटखट नगरी (बाल साहित्य):
पेड़ तुम पेड़ नहीं तुम दर्जी 90
कागज और पेड़ 91
स्वास्थ्य:
घुटनों की देखभाल 92

विश्व साहित्य:
अविस्मरणीय व्यक्ति (वासुरेएनु हितोबितो) 93

आंचलिक साहित्य:
लाज न एक्को गत्तर तोरा,ई कइसन बेपार (बज्जिका गीत): हरिनारायण सिंह 102
संस्कृति को संवाहक: दसैँ (नेपाल): प्रा.लेखप्रसाद निरौला 103
मिंजर मेला चंबा (हिमाचल प्रदेश): गंगा राम गाजी 106
बज्जिका(बृजिका): अमिअ भूषण 107

English:
Artist of the Month: Jeroo Roy 110
Contribution of Scientist turned Polymath to the Western perception of Indian Music & Dance: Dr. Kusum Pant Joshi 111
The Living Mountain: A Fable of Our Times by Amitav Ghosh: Mallika Ramachandran 117
Dry your eyes mate!: Shelley Williams 119

संपादकीय

वातायनम् का दूसरा अंक प्रस्तुत है। समय कैसे उड़ता चला जाता है; पिछले तेईस वर्षों से वातायन अंतरराष्ट्रीय साहित्यिक और सांस्कृतिक सेतु के रूप में नियमित कार्य कर रहा है किंतु कोरोना महामारी के आरंभ में हमने सर्वप्रथम जो साप्ताहिक लॉकडाउन संगोष्ठियों का आयोजन शुरू किया, हमारे देखते ही देखते उसको भी पाँच वर्ष बीत गए - इस दौरान लगभग 250 ऑनलाइन और बहुत से लाइव कार्यक्रम आयोजित किए गए; जिनमें दुनिया भर के प्रतिष्ठित वक्ताओं, कलाकारों और श्रोताओं की प्रतिभागिता रही। अब हम एक ऐसे वैश्विक गाँव में रहते हैं, जिसकी कोई सरहदें नहीं है - हमारे संपर्क का दायरा इतना बढ़ चुका है कि आज हमारे परिवार में हिंदी और अहिंदी भाषाओं के अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय भाषाओं के लेखक और श्रोता सम्मिलित हैं।

भारतीय संस्कृति, हिंदी और आँचलिक भाषाओं और साहित्य को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित एवं प्रभावशाली भाषा के रूप में स्थापित कर, इसे भावी पीढ़ी में स्थानांतरण किया जाना उपर्युक्त इसी सेतु का विस्तार है, वातायनम् भी इसी की एक कड़ी है, जो लिखित दस्तावेज़ के रूप में हमारे नवोदित साहित्यकारों का वैश्विक स्तर पर मार्ग प्रशस्त करेगी। वातायनम् का संपादक मंडल सर्वोत्तम विश्व साहित्य का चयन करने और प्रकाशित करने के लिए प्रतिबद्ध है।

वातायनम् के दूसरे अंक में साहित्य अकादमी द्वारा इस वर्ष के पुरस्कृत बाल साहित्यकार, सुशील शुक्ल जी और रोचिका अरुण शर्मा को भी शामिल किया गया है। स्वर्गीय प्रसिद्ध लेखिका कृष्णा सोबती जी (18.2.1925–25.1.2019) की शताब्दी के सुअवसर पर, हम उनके लोकप्रिय उपन्यास 'मित्रो मरजानी' के कुछ अंश भी इस अंक में सम्मिलित कर रहे हैं, जो अपने अनूठे कथा-शिल्प के कारण चर्चित हुआ। इस अंक में साहित्य की अनेक विधाओं को तो सम्मिलित किया ही गया है; साथ ही आगामी महीनों में मनाए जाने वाले कुछ आँचलिक त्यौहारों के विषय में भी जानकारी दी गई है।

आशा है कि वातायनम् के इस अंक को भी पाठकों, वरिष्ठ लेखकों और मित्रों का स्नेहाशीषमिलेगा। आपके रचनात्मक सुझावों की अपेक्षा में और शुभ कामनाओं सहित,

दिव्या माथुर

प्रमुख संपादक

सुलगती टहनी

(महाकुम्भ के सुअवसर पर पढ़िए निर्मल वर्मा का संस्मरण - भाग-2)

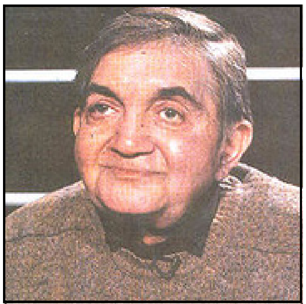

निर्मल वर्मा
साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ पुरस्कारों से सम्मानित वरिष्ठ सहित्यकार

प्रयाग : 1976

मेरे सहयात्रियों को अब चैन कहाँ? गिरते-गिरते भाग रहे हैं - एक बंगाली •लड़की अपनी बूढ़ी माँ के साथ घिसटती हुई, दोनों हाथों से उसे घसीटती हुई चल रही है - बग़ल में एक पोटली, हाथ में लोटा, आँखें सूरज और संगम के बीच उठी हुई। बूढ़ी माँ की धोती बार-बार घुटनों तक उठ आती है, काली सींक-सी टाँगें थरथराती हुई आगे बढ़ती हैं - रेत पर धँसते पैर ऊपर उठते हैं, नीचे गिरते हैं। मैं वहीं बैठ जाना चाहता था, भीगी काली रेत पर—असंख्य पदचिह्नों के बीच अपनी भाग्यरेखा को बाँधता हुआ। पर यह असम्भव था। मेरे आगे-पीछे अन्तहीन यात्रियों की क़तार थी— शताब्दियों से चलती हुई, थकी, उद्भ्रान्त, मलिन - फिर भी सतत प्रवहमान। पता नहीं, वे कहाँ जा रहे हैं, किस दिशा में, किस दिशा को खोज रहे हैं, एक शती से दूसरी शती की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए? कहाँ है वह कुम्भ-घटक जिसे देवताओं ने यहीं कहीं बालू के भीतर दबाकर रखा था? न जाने कैसा स्वाद होगा उस सत्य का - अमृत की कुछ तलछटी बूँदों का, जिसकी तलाश में यह लम्बी यातना-भरी, धूल-धूसरित यात्रा शुरू हुई है- हज़ारों वर्षों की लांग मार्च, तीर्थ अभियान, सूखे कंठ की अपार तृष्णा - जिसे इतिहासकार 'भारतीय संस्कृति' कहते हैं? मुझे नहीं मालूम। मैं सोचता नहीं - सिर्फ़ घिसटता जाता हूँ, धक्के खाता, गिरता-पड़ता, एक-एक इंच आगे सरकता हुआ। गंगा मेरे साथ बह रही है, मटियाली, पीली, अपनी तेज़ धार से ख़ुद अपने टापू को काटती हुई। उसके सामने जमुना कितनी शान्त दिखाई देती है - एक नीली झील की तरह निस्पंद, मूक, गम्भीर, जैसे उसे मालूम हो कि अब उसकी यात्रा का अन्त आ पहुँचा है - अब कोई भी छटपटाहट बेमानी है - अब गंगा की गोद में अपनी समूची थकान को डुबो देना है।

नहान पर्व की घड़ी - मोमबत्ती-सा जलता सूरज, जनवरी की सफ़ेद धुंध पर पिघलता हुआ। अनेक प्रार्थनाओं से जुड़ा शोर-जो शोर नहीं है, न आवाज़ है, न कोलाहल - सिर्फ़ मनुष्य का अपनी आत्मा से एकालाप, जिसे सिर्फ़ बहता पानी सुन सकता है। यह पानी इन आवाज़ों को अपनी धड़कन में पिरोता हुआ किस विराट मौन सागर में लय हो जाएगा, कोई नहीं जानता। दोनों धाराओं के बीच एक-एक काली रेखा दिखाई देती है। मैं समझता हूँ, यह कोई दीवार है, संगम के बीच हिलती, धुलती,बदलती लाइन ।लोग आते हैं,लाइन में डुबकी लगाते हैं और फिर अपनी।

दूसरी दुनिया

जगह दूसरों को दे देते हैं - और वह नर सेतु ज्यों-का-त्यों क़ायम रहता है। हर क्षण बदलता हुआ, किन्तु अपनी सम्पूर्णता में स्थिर और गतिहीन।

अब एक भी क़दम उठाना असम्भव है। यहाँ भीड़ इतनी घनी है कि स्त्री-पुरुष गंगा की मटियाली धार में ही नहाने लगे हैं - संगम से दो गज़ इधर या उधर, क्या फ़र्क़ पड़ता है। पुलिस के सिपाही लाइन बनाकर खड़े हैं - तटस्थ, शान्त, ध्यानावस्थित। मैंने भारतीय पुलिस को इतना शान्त कम ही देखा है, इसलिए उत्सुकता से उनकी आँखों का अनुकरण करता हूँ और पाता हूँ कि समूची बटैलियन अटेंशन की मुद्रा में नहाती हुई औरतों को देख रही है - रात-भर के जगे सिपाहियों को सुबह का यह दृश्य ज़रूर एक स्वप्न-सा जान पड़ता होगा

तभी एक धक्का लगता है। एक पच्चीस-तीस वर्ष का युवक भीड़ को चीरता हुआ पुलिस-इंस्पेक्टर के पास आ खड़ा हुआ है, गिड़गिड़ाते स्वर में कुछ कह रहा है।

“यहाँ साइकिल पर ?" इंस्पेक्टर साहब आश्चर्य से युवक को देखते हैं, “आपको मालूम नहीं, यहाँ कोई भी वाहन नहीं आ सकता?"

"जी, मेरी बात तो सुनिए।"

उसकी बात सुनी तो पता चला कि उसके अस्सी बरस के बाबा सैकड़ों मील की दूरी से प्रयाग तो चले आए हैं, किन्तु अपनी झोंपड़ी से संगम पैदल चलकर नहीं आ सकते। क्या वह उन्हें साइकिल पर बिठाकर नहीं ला सकता?

इंस्पेक्टर थोड़ा नर्म पड़ते हैं। "अच्छा, ले आइए - लेकिन देखिए, उन्हें आपको अलग नहलाना होगा, साइकिल समेत नहीं।" दस मिनट बाद उन्हें दुबारा देखता हूँ - वह एक पुरानी, जर्जरित साइकिल को घसीटता आ रहा है, पहिए बार-बार गीली रेत में रपट जाते हैं - वह घबराकर इधर-उधर देखता जाता है कि कोई दूसरा सिपाही उसे न रोक ले। किन्तु पीछे कैरियर पर बैठा यात्री बिलकुल अटल और निश्चिन्त है - आँखें मुँदी हुईं, मुँह खुला हुआ, ठुड्डी पर थूक की लार बह रही है, नीचे लटकते पैर रेत पर रगड़ते जा रहे हैं, जिसका उन्हें कोई ध्यान नहीं। पूरी एक ज़िन्दगी साइकिल पर घिसट रही है। उन्होंने अपना सिर सीट पर रखी मैली पोटली पर टिका रखा है।

साइकिल की चरमराहट में पता नहीं चलता कि ढीले कल-पुरजों की आवाज़ कितनी है, बूढ़ी हड्डियों की खटखटाहट कितनी। हर टूटी हुई साँस उन्हें अपनी यात्रा के अन्त की ओर ठेलती जा रही है।

कैसा अन्त? क्या कोई ऐसी जगह है जिसे हम अन्त कहकर छुट्टी पा सकें? जिस जगह एक नदी दूसरी में समर्पित हो जाए और दूसरी अविरल रूप से बहती रहे, वहाँ अन्त कैसा? हिन्दू-मानस में कोई ऐसा बिन्दु नहीं जिस पर अँगुली रखकर हम कह सकें, यह शुरू है, यह अन्त है। यहाँ कोई आख़िरी पड़ाव, 'जजमेंट डे' नहीं, जो समय को इतिहास के खंडों में बाँटता है। नहीं, अन्त नहीं है और मरता कोई नहीं, सब समाहित हो जाते हैं, घुल जाते हैं, मिल जाते हैं। जिस मानस में व्यक्ति की अलग सत्ता नहीं, वहाँ अकेली मृत्यु का डर कैसा? मुझे रामकृष्ण परमहंस की बात याद हो आती है : 'नदियाँ बहती हैं, क्योंकि उनके जनक पहाड़ अटल रहते हैं।' शायद इसीलिए इस संस्कृति ने अपने तीर्थस्थान पहाड़ों और नदियों में खोज निकाले थे— शाश्वत अटल और शाश्वत प्रवहमान—मैं एक के साथ खड़ा हूँ, दूसरे के साथ बहता हूँ।

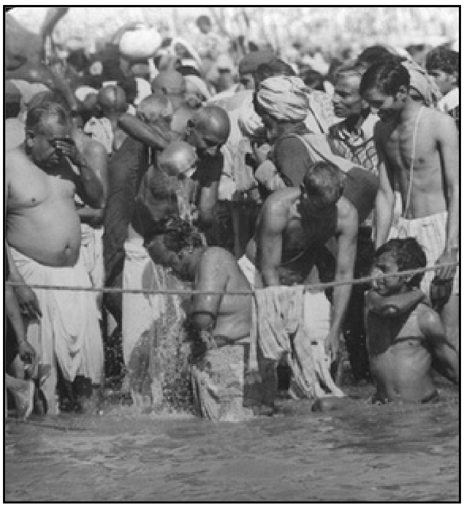

वे जा रहे हैं—गंगा-तट सूना पड़ता जा रहा है। विधवाएँ, मरणासन्न बूढ़े, वह बंगाली लड़की जिसे सुबह के अँधेरे में देखा था। वे लौट रहे हैं। सबके हाथों में गीली धोतियाँ, तौलिए हैं, गगरियों और लोटों में गंगाजल भरा है। मैं इन्हें फिर कभी नहीं देखूँगा। कुछ दिनों में वे सब हिन्दुस्तान के सुदूर कोनों में खो जाएँगे। लेकिन एक दिन हम फिर मिलेंगे - मृत्यु की घड़ी में आज का गंगाजल - उसकी कुछ बूँदें - उनके चेहरों पर छिड़की जाएँगी। आँख खुलेगी। सम्भव है, आज की सुबह बरसों बाद स्मृति पर अटक जाए-फूस के छप्पर, इलाहाबाद का क़िला, मेले पर उड़ती धूल-क्या याद आएगा? एक बूँद में कितनी स्मृतियाँ गले के भीतर ढरती जाएँगी।

मित्रो मरजानी उपन्यास का अंश

(कृष्णा सोबती की जन्मशती पर विशेष)

कृष्णा सोबती
साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ पुरस्कारों से सम्मानित वरिष्ठ सहित्यकार

दिन-भर मंडी में भटका-भटका बनवारी लाल घर आया तो रकाबी लिये सुहाग ससुर को दाल-दलिया खिलाने जाती थी। माथे का कपड़ा आँखों पर खींच लिया और पास खड़े हो बापू को खिलाया-पिलाया। बर्तन उठा, कुल्ला करवाया। फिर पल्ले के छोर से किशमिश-मुनक्के के दाने निकाल ससुर के आगे कर दिये।

गुरुदास ने असीस दिया—जीती रहो, बेटी, सुखी रहो !

बहू दहलीज तक पहुँची तो फिर से टेरकर कहा—सुहागवन्ती बेटी, तेरी सयानफष् का क्या मूल्य? तेरे सास-ससुर ने तुझे पाने को ज़रूर पिछले जन्म कोई अच्छा कर्म किया होगा।

ससुर की बड़ाई से हल्की फूल सुहागवन्ती चौके की ओर निकल गई तो भी गुरुदास पड़े-पड़े सोचते रहे। घर-गृहस्थी के जंजाल में भी मनुक्ख घाटे में नहीं रहता। इस माया में लाख दुःख-सोग पर फिर इसी की खट्टी कमाई बुढ़ापे में काम आती है। बहू को ही देखो, कहाँ की बेटी, कहाँ जन्मी-पली और ब्याहकर किन बूढ़ों की सेवा में जुटी है !

सहसा बेटी जनको की सूरत आँखों में घूम गई। कल इस अँगना डोलती-फिरती थी, आज किसी दूजे घर का चिराग बनी बैठी है। गुरुदास का दिल ऐसा उमड़ा कि उड़कर जाएँ और अपनी लाडली की घर-गृहस्थी देख आएँ। गए साल के बाद तो बेटी को बुलावा ही नहीं गया। समधी क्या सोचते होंगे ?

धनवन्ती अन्दर आई तो कहा—भागवान, बहू-बेटों में तुम ऐसी डूबी हो कि लड़की बेचारी की सुध-बुध ही नहीं।

धनवन्ती किवाड़ भिड़ा चारपाई पर लेट गई और थकी-सी बोली—जनको की चिट्ठी आई है, बैसाख में लड़के के मुंडन हैं।

सुनकर गुरुदास मानो अपनी प्यारी बेटी को ही पा गए हों। लाड़ से कहा—धनवन्ती, भगवान की दया से उनके घर का पहला पोता जनको की गोद पड़ा है। ज़रा ढंग का सामान जुटाना।

सोच में डूबी धनवन्ती लेटी-लेटी उठ बैठी—बनवारी लाल बड़े फिकरों में है। मंडी का देना चार-छह दिन में न चुकाया तो...

गुरुदास के मुख पर से चाव-भरी हँसी पल-छिन में गायब हो गई। सहमी-सहमी आँखों घरवाली को देखते रहे। फिर मानो अपने को तसल्ली देने को कहा—छोटी-सी बात को बड़ी बनाकर कहने की तेरी पुरानी आदत। जो मंडी का व्यापार करेगा, उसी के सिर देना भी चढ़ेगा और उसी की हथेली के जोर से उतरेगा भी।

धनवन्ती ने सिर हिलाया—न-न, लड़के का मुँह-माथा देख यह न कह सकोगे। मारे फिकर के उसकी तो भूख-प्यास सूखी है !

गुरुदास खाँसते-खाँसते उठ बैठे—बूढ़े बाप ने चारपाई क्या पकड़ी, नालायकों ने सब चौपट कर दिया।

धनवन्ती ने हाथ से रोक दिया—शुभ-शुभ बोलो, ऐसी वाक-वाणियाँ न करो ! दुनिया क्या कभी

देनदार नहीं होती ?

गुरुदास झुँझलाए—सीख न दे, भलीमानस, लड़के को आवाज़ दे। इस बूढ़े बाप से उन्हें अब क्या पूछना-ताछना?

धनवन्ती बनवारी को बुलाने गई तो घंटे-भर नहीं लौटी। गुरुदास पड़े-पड़े राह तकते रहे और तकते-तकते आँखों में नींद उतर आई।

सुहाग के बुलाए बनवारी लाल चौके में आया तो पाटिए पर बैठी धनवन्ती रोटी सेंकती थी। हल्की आँच फूल डाल खुला घी लगाया और बहू से कहा—बेटे को कुछ खांड-शक्कर दे।

न-न, अम्मा, आज घी-शक्कर पर दिल नहीं।

अरे बेटा, इन छोटे-मोटे फिकरों से क्या फाका करने लगे ? उठ, बहू।

घी-शक्करवाला लुकमा तोड़ बनवारी ने मुँह में डाला तो मीठी-सोंधी गंध से भूख चमक उठी। माथे के तेवर ढीले पड़े और मुँह-ही-मुँह स्वाद ले कहा—सुहाग ! मीठी रोटियाँ तो बस अपनी माँ की !

सास की ओर देख सुहाग मुस्कराई—सच ही तो है, जो छुटके-से बच्चे को खिला-पिला पूरा जना बना दे उस माँ की रोटी की क्या कोई कम महिमा ?

धनवन्ती जी भर-भर खुश हुई पर झूठ-मूठ का गुस्सा जता बनवारी की ओर ताका—बलिहारी तेरी अक्ल पर, सुहागवन्ती। मेरे ही बेटे को नज़र लगाने चली !

बनवारी ने भीनी आँख घरवाली पर डाली और उठते-उठते कहा—सुहाग, टुक सरदारी को तो हाँक देना।

सुहाग देवर के दरवाजे पर पहुँची तो देवरानी को सजते-बनते देख ठिठक गई। काशनी फूल-पत्तों वाला शोख गुलाबी जोड़ा पहने मँझली बालों में कंघा घुमाती थी।

मित्रो ने पलट नई की ओर देखा और घूरकर कहा—लड़का-बाला अभी तुम्हारी झोली नहीं, पर हो गई हो सास से भी अव्वल ! बित्ते-भर का यह तेरा वजूद, जिठानी, पर अकल-आँख ऐसी चौकस कि मजाल कुछ भी चूक जाए!

फिर नाक चढ़ा कहा - सज-सँवर पीतम को मिलने जाती थी कि बीच में महारानी आन पहुँची!

बहना, मैं तो तेरे जेठ के कहे सरदारी लाल को बुलाने आई थी। देवर क्या अभी लौटा नहीं ?

मँझली ने कलेजे पर हाथ रख लिया।

रात उतरते देवर तुम्हारा घर आन पहुँचे तो जान लो, जिठानी, उस दिन आसमानी गोला उगा पश्चिम से। तुम क्या समझी थीं, देवर तुम्हारा इस झोली में लुका बैठा होगा ? अरी, मेरी सयानी जिठानी, वह तो भागता-फिरता होगा वैद्य-हकीमों के यहाँ !

सुहाग ने झिड़की दिया -चुप री !

मँझली ने खड़े-खड़े माँग निकाली, दोनों ओर चिड़ियाँ-तोते बिठाए, चुटिया गूँथ परांदा डाला, फिर पिटारी से इत्रा-फुलेल की शीशी निकाल बोली - कुछ नर्म-गर्म हो तो कहो, जिठानी। तुम्हें भी फोहे का टोटका दे दूँ ?

सुहाग ने माथे पर हाथ रख धिक्कारा - हर घड़ी की मसखरी अच्छी नहीं, मँझली। तेरे जेठ ने पूरी बात तो नहीं बताई, पर इतना जान ले, इन भाइयों के सिर मंडी का चोखा देना चढ़ा है।

मँझली मुड़ी नहीं। लापरवाही से हाथ हिलाया - मेरे चहेते जेठ की महारानी ! जिस पर जो चढ़ा है चढ़ा रहे, मुझ पर तो सींगोंवाला भूत चढ़ा है।

जाते-जाते सुहाग ने सिर हिला कहा - तुम्हारे कहे का बुरा नहीं मानती, पर जी में बड़ा दुःख पाती

हूँ। देनेवाले ने कैसा तो रूप दिया और कैसी दे दी मत।
मँझली ने जिठानी का पल्ला पकड़ लिया।
मित्रो ने हाथ जोड़ दिए - बस, अब खुलासा कहो, मर्दों पर क्या बन आई है ?
सुहाग ने जाते-जाते कहा - जितना जानती थी, कह चुकी, बाकी पूछना सरदारी से !
जिठानी के बाहर गए पीछे मित्रो खड़ी-खड़ी कुछ सोचती रही। फिर दर्पण में मुखड़ा देखा। सिर की ओढ़नी उतार बाँहें फैला मुस्करा दी। अनोखी रीत इस देह-तन की ! बूँद पड़े तो थोड़ी, न पड़े तो थोड़ी ! आज भड़वा बनवारी ही जो बनाव-सिंगार देखता ! जाने किन कार-करतूतों में पड़ा शहर की धूल फाँकता है ! साध लिए मन में मित्रो जोड़ा उतारने को हुई कि जैसे किसी ने हाथ रोक लिया। बनी-ठनी हूँ तो क्या किसी की चोरी है? नखरे से दोबारा ओढ़नी ओढ़ ली और सासु से मुठभेड़ करने चौके की ओर चली।
फूलावन्ती के दरवाजे के आगे निकली तो छेड़खानी सूझी। झाँककर आवाज़ दी - आज तो, फूलावन्ती, तू बड़े रंगों में ! तेरी तो ताजी-ताजी इलायची दानेवाली माला घड़कर आई है।
फूलावन्ती ने दाँत-तले जीभ दबा ली। बैरिन कहाँ से पता पा गई? हाथ का कसीदा छोड़ दहलीज पर आन खड़ी हुई - तुम्हारा ही मुँह मुबारक हो, जिठानी ! इलायची दाने की कौन कहे, इस घर तो फटा छल्ला भी दवाल नहीं!
मँझली कूल्हे मटका हँस दी - वाह री बहन फरेबवन्ती ! इस कलजुग में तो पूजा ही गौड़-गड़न्त की तो तू ही क्यों सच बोले। छुटकी माला तो तेरी चोर-पिटारी में और सास-जिठानी को यह चकमा ! तू हजार तातेचश्म देवरानी, पर औरत की जून पड़ गहना-गट्टा सँभालने की विद्या किसे नहीं आती ? अरी, जादू के जोर तू माला कलेजे में भी छिपा ले तो भी उसे देख लेने का मंत्रा मित्रो के पास।
सुनकर फूलाँ को जग-जहान भूल गया। फिर इस डर से कि जिठानी सचमुच ही न समझ ले कि पछाड़ खा गई हूँ, बाहर निकल आई और मित्रो के पीछे-पीछे रसोईघर की ओर चली।
मित्रो चौके में जा बैठी और सास को सुनाकर बोली - माँ जी, बेचारी फूलावन्ती पर बुरी बन आई है, चाव-चाव गहना-गट्टा घड़वा जो अभागिन दुश्मनों के डर से अंग न छूआ सके...
धनवन्ती, जो पहले ही गुलजारी और उसकी घरवाली से जली-भुनी बैठी थी, चूल्हे में फूँक मार रुखाई से बोली—मँझली बहू, मैं गहने-गट्टे को नहीं हिलाती हूँ पर जो घरवालों को बैरी समझने लगे, उस भागमरी के गहने भी क्या फले-फूलेंगे ?
फूलावन्ती मुँहजोर जिठानी से डरती थी पर सास की बात सुनकर न रह सकी। त्योरी चढ़ा बोली—फूलें-फलें वे जिनका इस घर हुक्म हासल है! जिन हम-जैसों के भाग ही खोटे हों, जो अभागे सबसे छोटे हों, उनका तो प्रभु ही वाली! दिन-भर चूल्हा-चौका झोंक शाम को बची-खुची रोटियाँ, इतना ही न!
धनवन्ती ने हाथ मल-मल लिए - डर कर बहू, कोई ऊपर भी देखनेवाला है!
फिर मित्रो की ओर मुड़कर कहा - मँझली बहू! मैं तो नाते से ही बुरी इसकी सास ठहरी पर तू मेरी सौंह खाकर कह दे, इस नाजो को इस रसोईघर की राह-डगर भी पता है ?
मँझली ने टिटकारी भरी - पलंग पर बैठे-बिठाए जिसे चंगा-चोसा मिल जाए, माँ जी, वह निगोड़ी चौके में क्यों मुँह मारने आएगी?
फूलावन्ती सर मार-मार उछली - ठीक कहती हो, माँ जी, ठीक ही! इस चौके में मेरी क्या पूछ ? पूछ है उनकी जिनके खसम मेहनत से कमाते हैं, महीने में दस बार गफ्फे लाते हैं !

सास की कच्ची होते देख मँझली का दिल पिघला। बाँह से खींच फूलावन्ती को पास बिठला लिया और ठुड्डी छू बोली - मेरी बेलगामी देवरानी ! काहे झूठ बोलती है, री? मैं क्या बेली सुनार को नहीं जानती ? उससे गहने घढ़ा-घढ़ा तूने उसकी दूकान आधी कर दी, पर यह तो कह, भोली फरेबन, तेरा सैयाँ कहाँ से इतना कमाता-लाता है?

गाली सुन फूलाँ की आँखों में अंगारे बरसने लगे। कहा—देवर तुम्हारा कहीं सेंध लगाता हो, डाके डालता हो, सो जानें उसके माँ-बाप और भाई-भौजाई...

फिर चढ़े माथेवाली सास की ओर ध्यान गया तो आगे जोड़ा - जेवर-गहने की जो पूछो तो जो-जो पीहर से पाती हूँ, जोड़-बन्ध कर उसी से कुछ-न-कुछ घढ़वा लेती हूँ।

मँझली कुछ कहने जाती थी कि चौके के बाहर घरवाले को खड़ा देख मुस्कराई और फूलावन्ती के सिर का घूँघट नीचे खींच बोली - अरी देवरानी, कुछ होश कर! जेठ खड़ा है। लाख तुझसे गोरी-चिट्टी हूँ पर तेरे इस सुरमेदानी दिल की क्या खबर, अपने जेठ से ही लगा बैठे!

सरदारी ने सुना-अनसुना कर तीखे गले कहा -mअम्मा, गुलजारी ने जो गुल खिलाया है...

फूलाँ के कान खड़े हुए।

मँझली ने शरारत-भरी चितवन से सरदारी की ओर देखा और हँसकर कहा - जब तक मेरी फूलावन्ती को फूल नहीं पड़ता तब तक क्यों न देवर गुलजारी ही गुल खिलाए ?

धनवन्ती ने मानो बहू की बात ही न सुनी हो। सहमी-सी बेटे से पूछा - बेटा, मुझे पहेलियाँ न बुझा, ठीक-ठीक कह !

अम्मा, तुम्हारा छोटा बेटा बनवारी के नाम मंडी से रुपया उगराता रहा है और एक फूटी कौड़ी दूकान में जमा नहीं करवाई।

सुनकर धनवन्ती की आँखें फैल गईं।

मँझली फूलाँ को कोई करारी बोली मारने को थी कि उसकी सिसकी सुन अचरज में आ गई—क्या हुआ, लाड़ो ?

फूलावन्ती माथे पर हाथ मार-मार रोने लगी—हम बेचारे किसी को नहीं सुहाते ! इस घर हमारा कोई हिस्सा-हक नहीं तो हमारी छप्परी अलग कर दो ! बन आएगी तो कमाकर रूखी-सूखी खा लेंगे। न होगा तो मसानों में जा सोएँगे।

मँझली ने पुचकारा—न रो, फूलावन्ती, न रो ! अरी, यह कोई थाना-मुंसिफ नहीं, तेरा जेठ है, जेठ !

फूलावन्ती तड़प उठी—थाने-मुंसिफ गले पड़ें उनके जिन्होंने किसी की कमाई मारी हो, कोई गुनाह किया हो ! आढ़त में जो हक एक भाई का, सो ही दूजे का और वही तीजे का।

धनवन्ती से सहा नहीं गया—चुप बहू ! छोटा मुँह बड़ी बात ! किसका क्या हक है, क्या देना-पावना है, यही सिखा-पढ़ा उन पापड़गिरों ने यह कूड़ा मेरे माथे मढ़ दिया।

जानकर कि बड़े जेठ-जिठानी भी पास आ खड़े हैं, फूलावन्ती ने गले की आवाज़ बदल ली और हिचकियाँ ले-ले बोली—मुझ पर लाख जुल्म ढाओ, जो-जो मन हो कहो, पर उन राजाओं का नाम न लो !

धनवन्ती ने सिर हिलाया—हाँ री, हाँ ! जिन अपने सगे बाबुल-भाई को राजा करके पुकारती हो, उनसे भिश्ती अच्छे, बहूरानी !

बनवारी ने माँ को आगे बोलने नहीं दिया। आगे बढ़ बाँह से घेर लिया—चलो, अम्मा, इस कलह-फिसाद में अपना माथा न खपाओ। जो भीड़ हम पर बन आई है, उसके लिए कोई सलाह-सम्मति

सास की कच्ची होते देख मँझली का दिल पिघला। बाँह से खींच फूलावन्ती को पास बिठला लिया और ठुड्डी छू बोली - मेरी बेलगामी देवरानी! काहे झूठ बोलती है, री? मैं क्या बेली सुनार को नहीं जानती ? उससे गहने घढ़ा-घढ़ा तूने उसकी दूकान आधी कर दी, पर यह तो कह, भोली फरेबन, तेरा सैयाँ कहाँ से इतना कमाता-लाता है?

गाली सुन फूलाँ की आँखों में अंगारे बरसने लगे। कहा - देवर तुम्हारा कहीं सेंध लगाता हो, डाके डालता हो, सो जानें उसके माँ-बाप और भाई-भौजाई...

फिर चढ़े माथेवाली सास की ओर ध्यान गया तो आगे जोड़ा - जेवर-गहने की जो पूछो तो जो-जो पीहर से पाती हूँ, जोड़-बन्ध कर उसी से कुछ-न-कुछ घढ़वा लेती हूँ।

मँझली कुछ कहने जाती थी कि चौके के बाहर घरवाले को खड़ा देख मुस्कराई और फूलावन्ती के सिर का घूँघट नीचे खींच बोली - अरी देवरानी, कुछ होश कर! जेठ खड़ा है। लाख तुझसे गोरी-चिट्टी हूँ पर तेरे इस सुरमेदानी दिल की क्या खबर, अपने जेठ से ही लगा बैठे!

सरदारी ने सुना-अनसुना कर तीखे गले कहा - अम्मा, गुलजारी ने जो गुल खिलाया है...

फूलाँ के कान खड़े हुए।

मँझली ने शरारत-भरी चितवन से सरदारी की ओर देखा और हँसकर कहा - जब तक मेरी फूलावन्ती को फूल नहीं पड़ता तब तक क्यों न देवर गुलजारी ही गुल खिलाए?

धनवन्ती ने मानो बहू की बात ही न सुनी हो। सहमी-सी बेटे से पूछा - बेटा, मुझे पहेलियाँ न बुझा, ठीक-ठीक कह !

अम्मा, तुम्हारा छोटा बेटा बनवारी के नाम मंडी से रुपया उगराता रहा है और एक फूटी कौड़ी दूकान में जमा नहीं करवाई। सुनकर धनवन्ती की आँखें फैल गईं।

मँझली फूलाँ को कोई करारी बोली मारने को थी कि उसकी सिसकी सुन अचरज में आ गई - क्या हुआ, लाड़ो?

फूलावन्ती माथे पर हाथ मार-मार रोने लगी - हम बेचारे किसी को नहीं सुहाते! इस घर हमारा कोई हिस्सा-हक नहीं तो हमारी छप्परी अलग कर दो! बन आएगी तो कमाकर रूखी-सूखी खा लेंगे। न होगा तो मसानों में जा सोएँगे।

मँझली ने पुचकारा - न रो, फूलावन्ती, न रो ! अरी, यह कोई थाना-मुंसिफ नहीं, तेरा जेठ है, जेठ !

फूलावन्ती तड़प उठी - थाने-मुंसिफ गले पड़ें उनके जिन्होंने किसी की कमाई मारी हो, कोई गुनाह किया हो! आढ़त में जो हक एक भाई का, सो ही दूजे का और वही तीजे का।

धनवन्ती से सहा नहीं गया - चुप बहू ! छोटा मुँह बड़ी बात! किसका क्या हक है, क्या देना-पावना है, यही सिखा-पढ़ा उन पापड़गिरों ने यह कूड़ा मेरे माथे मढ़ दिया।

जानकर कि बड़े जेठ-जिठानी भी पास आ खड़े हैं, फूलावन्ती ने गले की आवाज़ बदल ली और हिचकियाँ ले-ले बोली - मुझ पर लाख जुल्म ढाओ, जो-जो मन हो कहो, पर उन राजाओं का नाम न लो!

धनवन्ती ने सिर हिलाया - हाँ री, हाँ ! जिन अपने सगे बाबुल-भाई को राजा करके पुकारती हो, उनसे भिश्ती अच्छे, बहूरानी!

बनवारी ने माँ को आगे बोलने नहीं दिया। आगे बढ़ बाँह से घेर लिया—चलो, अम्मा, इस कलह-फिसाद में अपना माथा न खपाओ। जो भीड़ हम पर बन आई है, उसके लिए कोई सलाह-सम्मति दो।

कंधे पर रखी बेटे की मजबूत बाँह छूते ही धनवन्ती की आँखें बरसने लगीं—बेटा, इस बुरी मतवाली के मुँह लग मेरी भी अक्ल-बुद्धि मारी गई है।
बेटे माँ को लिवा ले गए तो सुहाग ने चूल्हे पर से भाजी की कड़ाही उतार तवा रख दिया और छोटी देवरानी से कहा - उठ, फूलावन्ती, हाथ-मुँह धो, कुछ खा-पी।
फिर मित्रो से कहा - देवर की थाली परस ले जा, बहना। देवर ने सुबह से मुँह जूठा नहीं किया।
पड़छत्ती से बर्तन उतार मित्रो ने सुहाग के आगे रखे, पर फूलाँ को कुछ कहे बिना जी न माना। आँखों पर से देवरानी का हाथ हटा उसे बहनापे से गले लगा लिया और लाड़ जताकर कहा -स्वाँग तो तेरा भी अच्छा ही रहा, फूलावन्ती, पर सास तुझे भिश्तीवाली चोट करारी लगा गई है...
सुहाग ने एक संग हाथ आँख से भिड़क दिया - बस-बस, मँझली! जा, देवर को खिला-पिला!
मित्रो ने मुँह-ही-मुँह हँस जिठानी की ओर ताका और इठलाती, कमर मटकाती घरवाले को खाना खिलाने चली।
चारपाई पर बैठे सरदारी को चौंकाने के लिए मित्रो ने पाँव से आहट की, बाँहों से छनकार किया, तो भी फिक्रों में डूबा सास का बेटा हिला-डुला नहीं तो मित्रो के जी ढेरो प्यार उमड़ आया। हथेली पर थाली टिका, पाँव चारपाई की बाँही पर रखा और आँखें नचाकर कहा - लो, महाराज, बन्दी हाजर ! चाहो तो मेरी यह चिकनी-चुपड़ी सौत निगल लो, न हो तो मुझे ही चबा लो!
सरदारी ने अपनी कठोर आँखों से एक नज़र उठाई और लौटा ली।
मित्रो शरारत से और मसकी। कानों के झुमके हिलाए। तब हाथ से निवाला तोड़ सज्जन के मुँह में डाला और चंचल आँखों घरवाले को तरेरकर कहा - मौला जी, मैं नहीं तो यह आग-सिंकी सौतिया ही सही!
मित्रो के हाथों गस्से ले-ले सरदारी चुपचाप चबाता रहा तो आँखों में अनोखी अदा भर शोखी से कहा - क्म की बाँदी हूँ, चन्न जी, इतनी रुखाई क्यों?
सरदारी लाल ने इस बार ताका-भर और एक निवाला निगल लिया।
मित्रो ने भूरी आँखें नचाईं - मैं किस्मत-जली क्या करूँ ? मेरा ढोल तो मुझसे बेमुख!
छन-भर को सरदारी की आँख मित्रो की ओढ़नी पर टिकी कि मित्रो इमरती बन गई।
घरवाले के घुटने पर कोहनी टेकी और आँखों में आँखें डालकर कहा - रिसालदार जी ! सदा न रहेंगे यह रिसाले!
सरदारी ने चाहा, हाथ से परे ठेल दे पर भूरी आँखों पर बालों के छल्ले देख बदन में फुरैरी-सी उठ आई। ठुड्डी को छू कहा - नाटक-लीला में तो तू पुतली जान से भी बढ़कर!
बनी-ठनी, आँख के इशारों से मर्दों को नचाती पुतली जान की पदवी पा मित्रो मन-ही-मन फूली न समाई। पर ऊपर से गुस्सा जताकर बोली—भोले जानी, उस पान-चबाऊ भटियारिन से मेरी तुलना ? उस फत्तो के ध्यान में मेरी अनारों की लड़ियाँ ही भूल गए? हिन-हिन करती मँझली ने घरवाले का मुँह चूम लिया और मटककर कहा - सस्सी के पुन्नू, याद रख, खांड का बताशा और नून का डला घुलकर ही रहेगा !
सरदारी लाल के ओठों पर हँसी दिखी और ओझल हो गई। माथे के तेवर फिर उभर आए, तो भाँप मित्रो ने आँखें झपकाईं - महरम, मन-ही-मन कोई रोग लगा रखा है, फिक्र पाल रखा है तो बताओ, यह बन्दी भी बाँट ले।

सरदारी ने मन-ही-मन अपने को चेताया, पूरी फरेबन है, पर ऊपर से कहा - क्यों सिर खपाने बैठी है ? मर्दों के फिकर मर्दों के लिए।
सुनकर एक बार तो जी हुआ, घरवाले को एक करारी सुना चित कर दे, पर जबान पर काबू पा मित्रो बोली - महाराज जी, न थाली बाँटते हो... न नींद बाँटते हो, दिल के दुखड़े ही बाँट लो।
सरदारी ने सिर हिला हाथ छिटका—तेरे बस का नहीं।
मित्रो ने त्योरियाँ चढ़ा लीं - मेरे बस में मेरा बाँका ढोल नहीं, और सबकुछ है !
सरदारी ने सिर पर हाथ फेरा और लम्बी साँस भरकर कहा - गुलजारी का कपट-फरेब और सिर पर चढ़ा देना, उसी का फिक्र है, मित्रो !
मित्रो खिलखिलाकर हँस दी - लो मर गई मित्रो ! महाराज जी गोता मारा पाताल और निकला थोथा घोंघा! यह तो कहो सैयाँ, है कितना?
सरदारी लाल चुप बना रहा कि जवाब की जरूरत न हो?
मित्रो ने इजारबन्द से बँधी ताली निकाली और हाथ से उछालकर कहा - अपने साहब जी के लिए जो इतना भी न कर सके वह मित्रो न हुई कि कँगली हुई!
सरदारी ने नर्म हो कहा—भली लोग, यह तेरे बस का नहीं। सौ-सैकड़ों की बात नहीं। यह तो हजारों का तोड़ा है।
मित्रो ने आँखों से मसकी की - एक?
सरदारी ने सिर हिलाया - नहीं।
दो?
नहीं।
तीन?
हाँ।
मित्रो ने एड़ियाँ उठा पड़छत्ती पर से टीन की सन्दूकची उतारी। ताली लगा लाल पट्ट की थैली निकाली और घरवाले के आगे रख बोली - यह दमड़ी दात परवान करो, लाल जी ! कौन इस नाँवे के बिना मित्रो की बेटी कँवारी रह जाएगी?
घरवाले को हक्का-बक्का देख, ओढ़नी मुँह में डाल मित्रो पहले हँसती रही, फिर सरदारी के गले में बाँहें डाल दीं।
मित्रो के सिर की सौंह, महाराज जी, जो यह गुत्थी न परवानो!
जी में बड़ा पछतावा लगा। चलन तो इसके बुरे, पर इस पर हाथ उठाना सोहता नहीं।
सरदारी लाल कई बार मित्रो को तकता रहा, फिर रुखाई से पूछा—सच-सच कहेगी ?
मित्रो ने आँखें झपकाईं - क्यों नहीं !
पहले मेरी सौंह !
मित्रो ने मुँह बिचकाया - न-न, मुझे अपनी सौंह... अपनी माँ की सौंह... काले चोर की सौंह... पर, लाल जी, मैं अपने बेली सैयाँ की सौंह क्यों उठाऊँ? फिर छाती पर हाथ रखकर कहा - वह तो स्वास-स्वास इस बन्द बटुए में रहता है !
सरदारी ने जैसे सुना नहीं। कड़ी नज़र मित्रो के चेहरे पर गड़ाकर कहा—जहाँ-तहाँ क्यों ?
मित्रो ने नैन मटकाए - नहीं जी... कभी नहीं !
तो यह नाँवा कहाँ से समेटा है ?

डरकर मन-ही-मन कहा, जल्लाद कहीं का ! ऊपर से ठगनियों-सी हँसी - अम्मा के भोले भुलक्कड़, भूल गए? आपकी धन्नो सास की मैं इकलौती बिटिया हूँ!

सरदारी लाल कुछ कहने को हुआ कि मित्रो ने बढ़ शरबती ओठों से मुँह पर साँकल लगा दी। और चुप्पे से कहा - ग़म की गुत्थी सुलझ गई, दिलवर सैंया, अब अपनी लैला की सुध लो!

बहू के लिए झुमके बनवाने हैं, बेटा।

माँ ने जितनी आजिजी से कहा, बेटे ने उतने ही अचरज से देखा।

बनवारी लाल, इस घड़ी तुम्हें हाट-बाजार की औकड़ मुश्किल हो तो भी, बेटा, ना न करना।

माँ के स्वर में ऐसी लाचारी भाँप बनवारी लाल मन-ही-मन हँसा। सुहाग के दिन क्या चढ़े हैं कि आए दिन अम्मा नई-से-नई शह मँगवाती है। हँसकर कहा - अम्मा ! सुहाग भले तुम्हारी आँख-चढ़ी बहू हो, पर मैं तो इसे बिगाड़ने से रहा।

धनवन्ती खिल आई - बेटा, बहू तो मेरी लाखों में एक है। इसे बिगाड़नेवाले हम माँ-बेटे कौन ? सच पूछो तो ऐसी हीरा लड़की को सोने-चाँदी की झलक क्या? इसकी शोभा तो किसी हार-कंगन की गुलाम नहीं।

बनवारी लाल ने लेटे-लेटे माँ की ओर देखा और गर्वीले कंठ से कहा - अम्मा ! मन में जो हो सो खुलासा कह दो। तुम्हारे हुक्म में देर कैसी?

बेटे के मान से धनवन्ती की देह-आत्मा सभी तृप्त हो गए।

बनवारी लाल, जिस अम्बरी के तुम दोनों-से बहू-बेटा हों, वह तो बिना राजपाट ही मलका महारानी !फिर गला तनिक धीमा कर कहा - बेटा, झुमके तो सरदारी की बहू के लिए गढ़वाती हूँ।

बनवारी लाल माँ की ओर देखते रहे कि अभी कुछ और सुनना है।

धनवन्ती बेटे के पास आ बैठी और फुसफुसाकर बोली - बेटा ! उस दिन जो मँझली ने बड़ी बहू की खुशी की खबर मुझे दी तो चंगी-भली थी, हँस-हँस जिठानी की बात करती रही और खुश होती रही। फिर एकाएक जाने क्या हुआ कि सिर पर भूत सवार हो आया। झल्लाती-फुंकारती गुस्से में तड़पने लगी। बेटा, क्या कहूँ ? इस लड़की का पार किसी ने नहीं पाया। अच्छी हो तो अच्छों से अच्छी और बुरी हो तो बुरों से भी बुरी। रौ आए तो सखी हो अपना बचा-बचाया हाज़र कर दे, रौ आए तो ऐसी बेगैरती कि घरवाले पर थू-थू! धनवन्ती ने आँखें नीची कर लीं—क्या कहूँ, बनवारी लाल, इस मुँह बोल नहीं जुड़ते।

फिर रुक-रुक कहा - बहू तो तुम्हारे भाई को गाली निकालती है। तुमसे पूछती हूँ, बेटा, भाई तुम्हारा संग-सेहत में तो पूरा है ?

बनवारी ने माँ से आँखें नहीं मिलाईं। गला खँखारकर कहा -सरदारी में कोई दोष नहीं, अम्मा! यह जरनैली नार छोटे-मोटे मर्द के बस की नहीं !

धनवन्ती घड़ी-भर चुप बनी रही, फिर ठुड्डी पर हाथ रख कहा - बेटा ! अपने-पराए जो बहू की बातें करते-फिरते हैं, है कोई सार उनमें ?

सच-झूठ का निस्तार करनेवाला तो, अम्मा, कोई और ही है, पर सरदारी की बहू के ढिब अच्छे नहीं।

धनवन्ती की साँस गले में अटक गई - बेटा..

अम्मा, इकबालो भुया के लड़के निहाले को जानती हो न ? भरी मंडी में दूकान से बैठे-बैठे आवाज़ें कसता है, भाऊ बनारसी यार, भाभी के पास बैठा हो तो कहना, निहाला याद करता था।

धनवन्ती से सुना नहीं गया। कान पर हाथ धर लिये - न-न, बनवारी बेटा ! इस बात के कोई पाँव-पंख नहीं ! सौंह ठाकुरों की ! मेरे रहते मेरे घर पराए मर्द की परछाईं भी नहीं।

बनवारी के माथे के तेवर और ऊपर जा चढ़े। कई देर जैसे मन-ही-मन दलीलें करता रहा, फिर भारी गले कहा - अम्मा! धूल झोंकने के हज़ार ढंग।

धनवन्ती का चेहरा 'फक्क' हो गया। मुश्किल से इतना-भर कहा - भरी-पूरी गृहस्थी है बेटा, कोई अन्धेर पड़ा है ?

बनवारी ने लम्बी साँस ले सिर पर हाथ फेरा - क्या कहूँ अम्मा, तुम्हारे मन का ही भरम-भुलावा है। सच पूछो तो इस घर की कोई इज़्ज़त-आबरू अब बाकी नहीं। बारी-बारी हाथ की अँगुलियाँ चटखा माँ को मर्म की बात समझाई - दस-बीस आँखें मँझली बहू के बहाने इस घर पर लगी रहें, अम्मा, यह अच्छा नही। कुछ ऐसा साधो, प्यार-मनुहार से कि दो-चार महीने अपनी माँ के यहाँ लगा आए।

धनवन्ती की आँखों के आगे अपनी समधिन बालो का चेहरा घूम गया - उस अफराऊ माँ के पास तो और चौड़े चान्नन होंगी, बेटा। प्रारब्ध की बात समझो, बनवारी लाल, हमारे भाग पड़नी थी, नहीं तो माँ-बेटी के कसबों का हमें भी कोई सुराग मिल जाता, पर तकदीर के आगे किसका जोर?

अम्मा!

दहलीज पर से सुहाग ने पूछा - अम्मा, दूध को जाग लगा दूँ न?

अनमनी-सी धनवन्ती ने सिर हिलाया - हाँ, बहू।

फिर सुहाग के पीठ मोड़ लेने पर कहा - बेटा, सिर पर जो आ बनी है, निभानी ही होगी। पर बहू से कोई चिन्ता-फिकर की बात न करना। हाँ, रे, सरदारी आज परता नहीं?

खेड़े में हिसाब-किताब निबटाना था, अम्मा, वह शाम से पहले तो क्या लौटेगा।

दहलीज तक जा धनवन्ती एक बार और मुड़ी - बेटा, गुलजारी से तो टाकरा न हुआ होगा ?

माँ की ओर देख बनवारी हँस दिया - अभी लाला को ससुराल की चंगी-चौसी खाने दो, अम्मा। आप ही लाला राह पर आएगा।

धनवन्ती उठ बाहर आई। मँझली बहू का बन्द किवाड़ देख पाँव रुक गए। हाथ से खटकाकर आवाज दी - समित्रावन्ती, बेटी, आज इतनी जल्दी सो गई?

मित्रो ने द्वार खोलने से पहले ही सास का सत्कार किया - समित्रावन्ती-समित्रावन्ती ! सोई पड़ी को भी चैन नहीं। मित्रो न हुई कि घर की ड्योढ़ी में लगी कोई मोतियों की झालर हो गई! उसे अभी चोर पड़े कि अभी डाकू पड़े!

कपाट खुलने तक धनवन्ती ने जाने क्या-क्या सोच मारा। सौ बार तो जियरा धड़का। सरदारी आज घर नहीं, कहीं और ही गुल तो नहीं खिला बैठी ?

साँकल उतरी, किवाड़ खुला और भूरी आँखों मँझली ने घूरकर धनवन्ती की ओर देखा - सासु जी, मेरे अगोचर, ऐसी क्या आन पड़ी कि सोई पड़ी को जगा दिया? फिर आँखों को चढ़ा-झमका पूछा - क्या दूध-मलाई खिलाने आई हो, माँ जी?

धनवन्ती अन्दर आन खड़ी हुई बेटी, तुमसे क्या दूध-मलाई अच्छी है ? चाहो तो रोज़ हाज़र करूँ ?

कह धनवन्ती हँस दी - अपनी बुढ़िया सास को बोली-ठोली मार ले, बेटी, मैं क्या बुरा मनाऊँगी ?

मित्रो ने सास को अरखा-परखा और भौंहें चढ़ाकर कहा - अम्मा ! यह खेखन-दिखावे मेरे किस काम के ? जिस गर्ज से आई हो, वही कहो...

धनवन्ती जैसे बहू के लिए पहली बार सास बनी हो सौ-सौ भाग लगें तुझे, बेटी ! मैं तो तेरे जेठ को

तेरे लिए झुमके घढ़वाने को कहने आई थी। मित्रो के ओठों पर कोई भीनी मुस्कान घिर आई। ठुमककर कहा—मुझ पर ऐसी मेहर क्यों, माँ जी! कौन मित्रो तुम्हारी पुत्रा-पोते जनने बैठी है? झुमके तो दिलवाओ अपनी उस भाग-भरी बहू को जिसकी कोख खुलनेवाली है !

धनवन्ती गुस्सा नहीं हुई। उल्टे समझाकर कहा - बिसर गई बातें, समित्रावन्ती। अरी, तेरी जिठानी को क्या अनोखा पेट रहा है ? तू खुलेगी तो एक नहीं, इस आँगन सात-सात खेलेंगे।

मित्रो पहले सास को घूरती रही। फिर पलत्थी मार नीचे बैठ गई और मुँडी हिला-हिला बोली—भिगो-भिगोकर और मारो, अम्मा! पाँच-सात क्या, मेरे तो सौ-पच्चास होंगे! फिर ओठों पर आड़ी-तिरछी कुटिल मुस्कान फैल गई। आँखें मटकाकर कहा - मेरा बस चले तो गिनकर सौ कौरव जन डालूँ, पर, अम्मा, अपने लाडले बेटे का भी तो आड़तोड़ जुटाओ! निगोड़े मेरे पत्थर के बुत में भी कोई हरकत तो हो!

धनवन्ती के बदन पर काँटे उग आए।

छिः-छिः बहू! ऐसे बोल-कुबोल नहीं उच्चारे जाते! फिर बनवारीलाल की बात का ध्यान कर समझाया - बेटी, ऐसे दिल छोड़ने की क्या बात ? सौ जन्तर-मन्तर, टेर-टोटके, फिर जब मेरी बहू ही साकखयात शक्ति...

मित्रो हि-हि हँसने लगी - अम्मा, मैं तो ऐसी देवी कि छूने से पहले ही आसन विराज जाऊँ, पर भक्त बेचारा तो...

धनवन्ती ने बहू के मुँह पर हाथ रख दिया - बस, बहू! फिर एक ही साँस में गुस्सा पी बहू को लाड से कहा - एक कहा मेरा भी मान के देख लो, समित्रा रानी !

मित्रो को सच ही में मुँह उठाए, आस लगाए देख धनवन्ती ने पास फेंका - बेटी, तू मेरा कहा करे तो महीना-दो माँ के यहाँ रह व्रत-उपवास कर। इस बीच यहाँ की मैं सँभाल लूँगी। बहूरानी वहाँ से आएगी तो सब मनचाहा पाएगी।

मित्रो को बिना माँगे मन की मुराद मिल गई। मन-ही-मन जाने पीहर के किन-किन मित्रा-प्यारों को याद किया और उछाह से सास के आगे माथा टेककर इठलाकर कहा—बड़ी सरकार ! तुम्हारा कहा सिर-माथे! जो कहोगी, जैसा कहोगी, वैसा ही करूँगी। अपने कन्त से आनन्द पाने को महीना-दो क्या, मैं पूरे चौबीस पक्ख व्रती रह लूँगी।

(राजकमल प्रकाशन से साभार)

मित्रो ने मुँह बिचकाया–

न-न मुझे अपनी सौंह... अपनी माँ की सौंह.. काले चोर की सौंह...
पर, लाल जी, मैं अपने बेली सैयाँ की सौंह क्यों उठाऊँ?

फिर छाती पर हाथ रखकर कहा–

वह तो स्वास-स्वास इस बन्द बटुए में रहता है!

सरदारी ने जैसे सुना नहीं। कड़ी नज़र मित्रो के चेहरे पर गड़ाकर कहा–

जहाँ–तहाँ क्यों ?

मित्रो ने नैन मटकाए-

नहीं जी... कभी नहीं!
–तो यह नाँवा कहाँ से समेटा है?

डरकर मन-ही-मन कहा, जल्लाद कहीं का! ऊपर से ठगनियों-सी हँसी–

अम्मा के भोले भुलक्कड़, भूल गए? आपकी धन्नो सास की
मैं इकलौती बिटिया हूँ।

सरदारी लाल कुछ कहने को हुआ कि मित्रो ने बढ़ शरबती ओंठों से मुँह पर साँकल लगा दी।
और चुप्पे से कहा–

ग़म की गुत्थी सुलझ गई, दिलवर सैंया, अब अपनी लैला की सुध लो!

सुनकर मँझली ने सिर क्या उठाया कि खूँख्वार शेरनी-सी झपट पड़ी—

जले पर नमक छिड़कने से नहीं होगा,

अम्मा!

माँ-बेटे मिल,
छील-छाल
मित्रो का
अचार
क्यों नहीं
डाल लेते
?

हक्की-बक्की धनवन्ती की एक साँस ऊपर, एक नीचे।

सास के मुँह पर कालिख पोतने को फूलाँ ही
क्या एक कम थी जो
अब दूसरी भी उसी राह आन पड़ी!

समझा-बुझाकर कहा—

बहू! मेरा सरदारी स्वभाव
का कड़ुवा है पर जी का
बुरा नहीं। मालिक करे तेरी
गोद भी बाल-बच्चे पड़ें तो
आप ही गबरू ढंग पर
आ जाएगा।

मित्रो को बिना माँगे मन की मुराद मिल गई। मन-ही मन जाने पीहर के किन-किन मित्र-प्यारों को याद किया और उछाह से सास के आगे माथा टेक कर इठलाकर कहा–
–अम्मा, मैं तो ऐसी देवी कि छूने से पहले ही आसन विराज जाऊँ, पर भक्त बेचारा तो...
–बड़ी सरकार!
तुम्हारा कहा सिर–माथे! जो कहोगी, जैसा कहोगी, वैसा ही करूँगी। अपने कन्त से आनन्द पाने को महीना–दो महीना क्या, मैं पूरे चौबीस पक्ख व्रती रह लूँगी।

सुहाग हँसी—

सरदारी देवर को भी तूने सन्त-महात्मा समझ लिया,
देवरानी? जिस घड़ी तेरी याद आई उसी पल अपनी
सोहनी-मोहनी को लिवा ले आएँगे!

मित्रो ने जिठानी की आँखों में आँखें डाल पूछा— ***न आऊँ तो?***

-आओगी कैसे नहीं, बहना?
जहाँ विराजें शिवजी वहाँ उनकी पार्वती!

मित्रो जिठानी पर रीझ गई। सुहाग की ठुड्डी छू कहा—

हुआ कौल-करार, जिठानी! जिस दिन आऊँगी तुम्हारा
और तुम्हारे महादेव का हल्वा-पूरी अपने हाथों करूँगी!

सुहाग को मन्द-मन्द मुस्काते देख मित्रो ने छेड़खानी की—

सच-सच कहना, जिठानी, तुम जो जेठ को छोड़कर
जाओ तो कितने दिनों में परतो?

सुहाग तनिक-सा लजाई, फिर मुस्कराकर कहा—

एक नहीं तो दो, दो नहीं तो चार,
चार नहीं तो छः छः, नहीं तो हफ्ता- दस,दस... और कितने?

जिठानी के मुँह से ऐसा हिसाब सुन मित्रो को जैसे अंग-अंग रस आ गया।
चटखारे ले-ले ओंठों पर जबान घुमाई और आँखें नचाकर कहा—

कलजुग, जिठानी, घोर कलजुग!
तुम-सी सीधी नार के मन ऐसे हुलेरे?

सुहाग कई पल देवरानी की ओर देखती रही, फिर हौले से पूछा—

मित्रो बहन, अम्मा ने जाने को कह दिया सो ठीक,
पर क्या देवर की रज़ामन्दी से जाती हो?

पहले पहर बन-ठन मित्रो प्याजी रंग की ओढ़नी ओढ़ घरवाले के हुजूर में हाजिर हुई तो सिंगार देख एक बार तो अचरज के मारे सरदारी लाल की टिकटिकी बँध गई।

ठुमक-ठुमक, हाथ में पीतल की सुराही ले अन्दर आई तो सरदारी को लगा कोई बसरे की हूर हो। कमर लचका-झुका, हाथ की सुराही चौकी पर रखी, फिर खड़े-खड़े खुमार-भरी आँखों से, घरवाले को घूर शरारत से छेड़छाड़ की–

भोले बलमा,
बिटर-बिटर क्या तकते हो,
अपनी मित्रो को ही नहीं पहचाना!

सरदारी ने नाक से इत्र-फुलैल की तीखी गन्ध खींची और तेवर चढ़ा तने-तने पूछा-

यह कंजरियोंवाला तेरा कैसा वेश ?

मित्रो हँस दी कि घंटियाँ टनटनाई हों।
फिर गुस्सा जताकर बोली-

यह अपना घर नहीं,

ढोलजानी!

तुम्हारी टट्टल–बट्टल कहीं मेरी माँ के

कानों जा पहुँची तो...

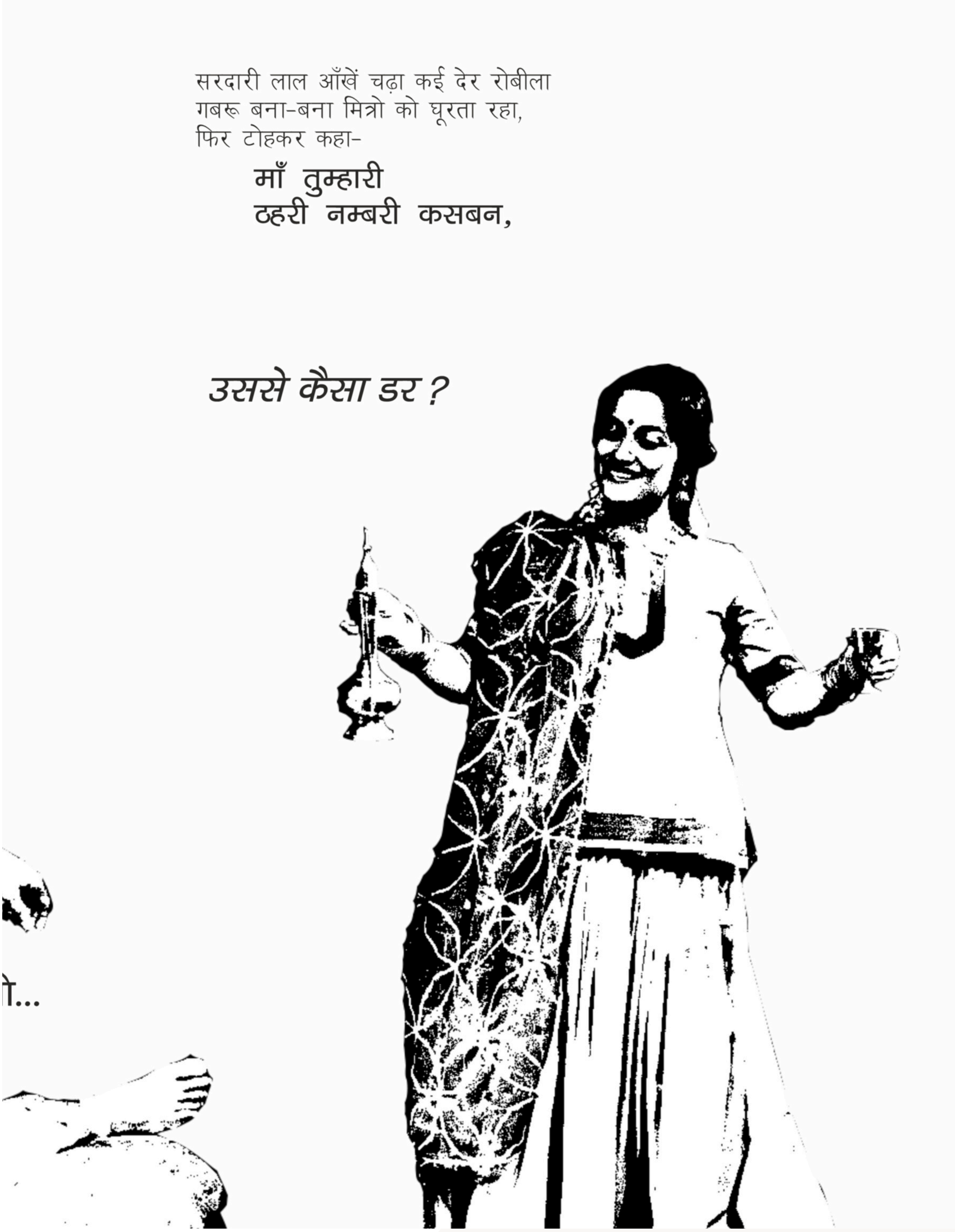
सरदारी लाल आँखें चढ़ा कई देर रोबीला
गबरू बना-बना मित्रो को घूरता रहा,
फिर टोहकर कहा-
माँ तुम्हारी
ठहरी नम्बरी कसबन,
उससे कैसा डर ?

एशिया महाद्वीप में क़िस्सागोई की दास्तानगोई

कुछ यादें... कुछ हकीकतें(भाग-2)

नासिरा शर्मा

साहित्य अकादमी और व्यास सम्मान से पुरस्कृत लेखिका

मुंशी नवल किशोर ने दास्तान हमज़ा की लोकप्रियता का यह हाल देखा तो उन्होंने तीन लोगों - मुहम्मद हुसैन जाह, अहमद हुस्सैन क़मर और शेख तस्दुक हुसैन क़मर - को यह ज़िम्मेदारी दी कि अमीर हमज़ा सारी मुंहजुबानी दास्तानों को जमा करें। यह बड़ा काम था जो पच्चीस वर्ष में समाप्त हुआ और 'तिलिस्म-ए-होशरुबा' के नाम से दास्तानें छपना शुरू हुई जो आठ जिल्दों में थी जिसकी पाँचवीं जिल्द लगभग 46 जिल्दों में समाई जो दास्तान अमीर हमज़ा थी। बुसताने ख्याल (कल्पना का बगीचा) भी बहुत लोकप्रिय दास्ताँ रही है। कहा जाता है कि जब एक ख़ुरासानी दास्तानगो ने बाबर को मीर हमज़ा की दास्ताँ के कुछ टुकड़े सुनाए तो बाबर ने मज़ाक उड़ाते हुए कहा था (इन्द्रिय चुराने वाला जादू) "भावना और प्रकृति के विपरीत दूरगामी झूठ।"
नादिर शाह जब दिल्ली रौंद रहा था, उस समय शाह मुहम्मद शाह ने, वे 1200 फ़ोलियो जो 14 वर्ष की अवधि में चित्रकारों ने मीर हमज़ा दास्ताँ पर बनाए थे, उनको वापिस करने की विनती की थी। इस मशहूर दास्तान का विषय अफ़रासियाब और उनकी बेगम 'हैरत' का है जो एक के बाद एक जादू तोड़ते हैं। कहानी में इतने मोड़, इतनी घटनाएँ और चरित्र हैं, जिनको सीधी पंक्तियों में रख कर कहानी बताई नहीं जा सकती। इसके बाद 'फ़साना अजायब में (1838-1842) मध्य एशिया, मध्य पूर्वी एशिया और भारत से उठाई दास्तानों को जमा कर के छापा गया फिर क़िस्सा चहार दरवेश 1820 किस्सा आज़ाद 1846-1902 चार जिल्दों में छपीं।
दास्तान गोई का चस्का सभी को था। अब्दुल हलीम शरर का कहना है कि अफ़ीमचियों के मोहल्ले में उनका दास्तानगो भी रहता था। दास्तानगोई ज़बानी बयान के बाद, शब्दों में लिखी जाने लगी, जिसमें ड्रामा भी शामिल हो गया और दास्तान में बयान चरित्र स्वयं स्टेज पर आकर अपनी भूमिका निभाने लगे। जैसे इंद्रसभा के लेखक नवाब वाजिद अली शाह इन्द्र की भूमिका निभाते थे।
‘राजा हूँ मैं कौम का इन्द्र मेरा नाम
बिन परियों के दीद के मुझे नहीं आराम,’
इस बीच फारसी थियेटर वजूद में आया जिस में गाना-बजाना भी शामिल हुआ जिसने देखने वालों को अपनी तरफ बड़ी संख्या में खींचा।
क़िस्सा अरबी शब्द है और अरब ज़मीन में क़िस्सागोई का कोई जवाब नहीं है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक सीरिया में गद्य की दो विधाएं प्रचलित थीं। पहली मक़ामा (शाब्दिक अर्थ सभा) जो लयदार गद्य के क़िस्से के अलग-अलग टुकड़ों जिन्हें 'साज़' कहा जाता था, उसे गाकर सुनाता था। उसके नगीनों की तरह जड़े ख़ूबसूरत शब्द, संगीत के नोट की तरह मन पर प्रभाव डालते थे।
दूसरी विद्या कहलाती थी रिसाला (शाब्दिक अर्थ ख़त या लेख), जिसका निजी या सरकारी स्तर पर जन्म, मृत्यु और त्योहारों के मौके पर आदान-प्रदान होता था। एक समय में दुनिया के हर बच्चे को बग़दाद का चोर, अलीबाबा चालीस चोर कहानियों में भरपूर मज़ा मिलता था। उसी ज़मीन की सब से बड़ी क़िस्सागो 'शहज़ाद' थी जिसने अपनी जान बचाने और शहरयार नाम के बादशाह को उसकी कुंठा से निकलने का अवसर दिया, जो हर रात शादी करता था और पत्नी को मरवा देता था।

शहज़ाद हर रात शहरयार को प्यार और नैतिकता से भरे किस्से सुनाती और जब सुबह होने लगती तो वह किस्से को ऐसे सस्पेन्स पर समाप्त करती कि शहरयार उसके कत्ल का हुक्म देना भूल जाता और अगली रात बाकी किस्सा सुनाने को कहता, इस तरह एक सौ एक किस्से के बाद, शहरयार अपनी जड़ता को तोड़ सोचता है कि क्या दुनिया में यह सब भी मौजूद है। यह नमूना क़िस्सागोई का सब से आला मुकाम है जिसे आने वाली पीढ़ियां अपने लेखन और कला में बार-बार इस्तेमाल करती हैं, मिसाल के तौर पर अरबी भाषा के लेजेंडरी नाटककार कहलाए जाने वाले तौफीफ़ी-अल-हकीम है जिन्होंने शहज़ाद पर नाटक लिखा 1934 में, जिसमें वह यह सवाल उठाते है कि क्या एक इंसान सिर्फ अपना जीवन बौद्धिक शक्ति और तर्क के सहारे गुज़ार सकता है? अपने दिल की आवाज़ को सुने बिना? जबकि दूसरे लेखकों ने उसे आज के आधुनिक शारीरिक विज्ञान और संस्कृति की रौशनी में परखने की कोशिश की है। तौफ़ीक-अल-हकीम की दास्तान, अलिफ लैला, की डिटेल में न जाकर सीधे शहरयार से पहला एक्ट शुरू कर देते हैं। जो कुछ यूँ है - शहज़ाद अपनी आखिरी दास्तां सुना कर खामोश होती है। शहरयार को दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है:

मैं बदन से थक चुका हूँ बुरी तरह उनसे ऊब चुका हूँ
मैं वह सब कुछ जानना चाहता हूँ, वह सब कुछ, वह सब कुछ

नाटककार हकीम शहज़ाद व शहरयार के बीच संवाद रखते हैं। यह उनकी अपनी मौलिकता पर निर्भर है:

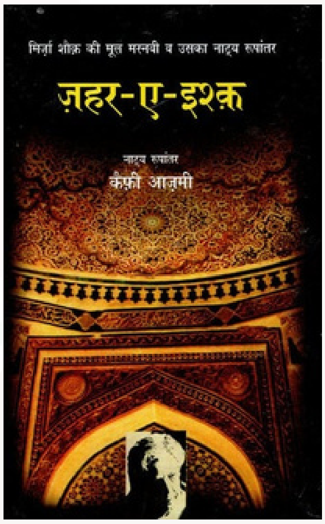

शहज़ाद: क्या तुमे जानना चाहते हो मैं कौन हूँ?
शहरयार : हाँ
शहज़ाद: (मुस्कुरा कर) मैं एक खूबसूरत बदन हूँ
क्या मैं कुछ और हूँ सिवाय एक खूबसूरत बदन के!
शहरयार: (चीख़ कर) दफ़ा हो तुम! और तुम्हारा यह बदन!
शहज़ाद: मैं एक बहुत बड़ा दिल हूँ ।
क्या मैं कुछ और हो सकती हूँ सिवाय एक बड़े दिल के?
शहरयार: सत्यानाश हो तुम्हारा! ये बड़ा दिल!
शहज़ाद: क्या तुम इस हक़ीक़त से इंकार कर सकते हो कि तुम्हें कभी मेरे शरीर से प्यार था? और ये भी कि कभी तुमने मुझे दिल से चाहा था?
शहरयार: वो सब ख़त्म हुआ... ख़त्म हुआ!

शहज़ाद उन आशिकों की कहानी सुना, उसके दिल में प्रेम का अंकुर फोड़ना चाहती थी। और शहरयार उस 20 वर्ष की ज्ञान से भरी लड़की जैसा बन जाना चाहता है।

नाटककार हकीम ने इस नाटक में शहज़ाद को उसके विभिन्न प्रेमियों के साथ भी दिखाया है। यह नाटक क़िस्सागोई की तरह अपने नए रंग में भी सुनाया जाता है।

अरब लेखक ही नहीं एशिया के लेखक अपने पुरखों के बयान क़िस्सों से आज भी प्रेरणा लेते हैं। भले ही उसमें जादू हो, अय्यारी हो, किसी को पाने की जुस्तजू हो, मगर अलग तरह से। फ़ारसी शब्द दास्ताँ हैं, और दास्तानगोई का अपना रंग फ़ारस की ज़मीन पर भी खूब फैला-फूला है। कवि निज़ामी गंजवी की 'हफ्त पैकर' और 'शीरिन व खुसरू' मसनवी, जिसमें सब कुछ नज़्म की शैली में कही गई कहानियां हैं, जिसमें इश्क़ है और परियों पर इंसानों से मोहब्बत का जिक्र है। शाहनामा फिरदौसी कहने को ईरान की तारीख है परन्तु वह एक बड़ी दास्तान है जो 60,000 शेरों में कही गई है। मैंने पहली बार शाहनामा को ईरान में सुना

था जिसके टुकड़े स्थान व माहौल के मुताबिक पढ़े जाते हैं, जैसे नक्क़ाली, ज़ूरखाने (जिममें पहलवानों की कसरत के समय गाई जाती है) जिसमें रुस्तम की बहादुरी व जंग का किस्सा होता है। दास्तानों के प्यार भरे किस्से चायख़ाने में गए जाते हैं। दूसरी-तीसरी बार दिल्ली में फ़िरदौसी के जन्मदिन पर ईरान से आए दास्तानगोह से सुना था। यहां पर एक नमूना मैं शाहनामा की उस दास्तान का दूंगी जो हिन्दुस्तानी कहानी 'शतरंज की पैदाइश' के नाम से है।

हुमान बादशाह बूद, बर हिन्दुआन-ख़िरदमंद व बीना व रोशन रवान (हिंदुस्तान में एक बादशाह था जो बहुत समझदार था) ।

फिरदौसी सन्दल नाम के उस रियासत का ज़िक्र करते हैं जो भारत में तथा जिसका साम्राज्य चीन से कश्मीर तक था जिसका नाम जमादूर था।

हिन्द के बादशाह के मरने के बाद मलका को मजबूर किया जाता है कि वह अपने देवर से शादी करें। अपने दोनों बेटों के बीच, रानी तख्त व ताज की विरासत किसे दें, क्योंकि दोनों अपने को पिता के मरने के बाद वारिस कहते थे। दोनों में जंग होती है और एक भाई मारा जाता है जिसका ग़म रानी दोनों के लश्करों से अपना दुख कम करती है, कि कैसे किसकी फौज आगे बढ़ी और कैसे बेटा मारा गया।

जब हम दास्तानगोई की बात करते है तो उसमें मैं बेबिलौन की देवमाला को भी शामिल करना चाहूंगी जो प्राकृतिक देवता थे। वनस्पति विज्ञान तो पूरा एक विषय है मगर ये दास्तानगोई उसमें इराक़ का अर्ध इतिहास व अर्ध-दंतकथाओं का दौर तीन हज़ार वर्ष ई. पूर्व से आरम्भ होता है। उस समय तीन वीर नायक इराक के प्रांत सुमेर से ताल्लुक रखते हैं, जिनके नाम इनमेंगर, लोगुलबादार और गिलगामिश है। गिलगामिश की पूरी दास्तान की पांडुलिपि सातवीं सदी ई. पूर्व में शहंशाह आशूर बनिपाल की आज्ञा से नेनवा के शाही पुस्तकालय के लिए तैयार कराई गई थी। यह नुस्खा कच्ची मिट्टियों की बारह तख्तियों पर पीकानी लिपि में अक्कादी में मौजूद है। इस पर लेखक का नाम दर्ज नहीं है। यह कहानी देवमाला में गिलमिश अय्याश ज़ालिम बादशाह है जो जीवन-वृक्ष की तलाश में है। उस वृक्ष को साँप चुरा लेता है। उसमें सैलाब का ज़िक्र है जिसमें कश्ती डूब जाती है। यहाँ पर जीवन-वृक्ष की तलाश, जीवन की चाह से जुड़ जाती है, जैसे गिलगामिश का दोस्ता कहता है:

यह मैं अपना खुद का भेद बताता हूँ
पानी में गुलाब की तरह काँटेदार पौधा होगा
तेरी उंगलियों को घायल कर देगा
यदि तूने उसे हासिल कर लिया तो
तेरे पास वह चीज़ होगी
जिससे इंसान की जवानी लौट आती है।

एशिया में क़िस्सागोई की दास्तानगोई, बहुत बड़ा सिलसिला है, यहाँ बस इतना ही। लेकिन समय का सच यह है कि आज के परिदृश्य में क़िस्सागोई का चलन बढ़ गया, और कहने वाले तो आज की कहानियों में क़िस्सागोई को ढूंढ़ते हैं। वर्तमान समय में मंच पर होती, पहली क़िस्सागोई कर्बला पर मैंने फौजिया की सुनी, बाद में उन्हीं के द्वारा महाभारत पर। क़िस्सागोई के नाम पर क़िस्सा बयानी कई जगहों पर हो रही है, और पंचतंत्र का जादू धीमा पड़ने के बाद आज फिर बढ़ रहा है।

आधा शहर

डॉ उषा प्रियंवदा
विसकौंसिन विश्वविद्यालय,अमेरिका की पूर्व प्राध्यापक, लेखिका, अनुवादक

मुझे देख थोड़ा सा ताज्जुब हुआ कि जाड़े के मौसम में भी पंखे चल रहे थे। एयरपोर्ट छोटा था, साफ़-सुथरा, चारों तरफ़ जाड़े की चटख धूप, मुझे अपनी बांह पर ओवरकोट बहुत भारी लग उठा। उसे ब्रीफ़केस पर रखकर मैंने सामने देखा तो पाया कि इस बीच वह जंगले पास आकर खड़ी हो गई है। पहली नज़र में वह पूरी हिंदुस्तानी हो आई दिखाई दी; चिपके-चिपके बाल, संकरे माथे पर बड़ी सी बिंदी, इतनी बड़ी कि वह मेरी आँख में खटक उठी। वह मुझे देखकर मुस्करा दी। मैं उसकी मुस्कराहट के बारे में भूल गया था। वैसे उसका चेहरा हमेशा ही लगता था कि जैसे वह मुस्करा रही हो। पर जब वह सचमुच मुस्कराती थी तो उसके चेहरे पर एक आभा सी आ जाती थी और बाएं गाल पर एक बहुत हल्का सा गड्ढा बन जाता था। अब, सामान के जहाज़ से उतरने और आने तक के इन मिनटों में मुझे अपने ऊपर हैरानी होने लगी है कि इला पंडित के गाल का वह हल्का सा गड्ढा मेरी याद में कैसे टंका रह गया। यही नहीं, उसे देखते ही कितनी छोटी-बड़ी बातों का रेला मन में आ गया। हमने औपचारिक बातें कीं, पोर्टर ने मेरा सूटकस उठाया और इला के इशारे पर टैक्सी में रख दिया।

"हम कहाँ जा रहे हैं?" मैने पूछा।

"तुम देखोगे?" हम अंग्रेज़ी में ही बात करते हैं और इसका हिंदी में अनुवाद मेरे मन में तुम ही बनता है। वैसे इला ने कभी मुझे तुम नहीं कहा था।

उसके हाथ गोद में रखे थे हैं एक-दूसरे में गुंथे हुए। यह मुद्रा पुरानी थी। अपना बचाव करने को एकदम तैयार सी।

"अच्छी जगह है।" मैंने कहा। मध्याह्न की धूप जैसे अंदर आकर मेरे हाथ-पैर सेकने लगी। बाहर रंग बिरंगी झाड़ियाँ थीं। तरह-तरह के फूल। फूलों के नाम मुझे नहीं मालूम।

"कब से यहां हो?" मैने इला की तरफ़ मुड़ते हुए पूछा।

"सदी शुरू होने से ही।"

"काम कैसा चल रहा है?" मैंने बहुत सतर्कता से पूछा।

वह सकुचा आई, "ठीक-ठीक।"

वह साफ़ बोल रही थी। उसने एक उड़ती नज़र डालकर मुझे देखा, फिर बाहर देखने लगी।

"कब तक खतम करने का इरादा है?" मैंने कुरेदकर पूछा।

"मई-जून तक, जुलाई-अगस्त में रैप-अप करने का इरादा है।"

"फिर लिखोगी कब?"

वह चुप रही; इंडियन एयर-लाइंस की बस को क़रीब क़रीब रगड़ते हुए आगे बढ़ गई। शायद हम किसी छोटी जगह से गुज़र रह थे क्योंकि दोनों तरफ़ दुकानें थीं, उनके बाद कुछ पीले पुते हुए घर, गेस्ट-हाउस के दो-तीन साइन बोर्ड। और हम खुली सड़क पर फिर आ गए।

"किसी प्रकाशक से बात की?"

"अभी नहीं," उसकी आवाज़ बहुत धीमी हो आई थी। मैं कहना नहीं चाहता था, फिर भी कहा,

"तुम्हें तो मालूम ही है कि तुम्हारा सारा भविष्य इस किताब पर टंगा हुआ है।"
"हाँ हाँ, मुझे मालूम है," उसने कुछ चिड़चिड़ी अधीरता से कहा।
"मैं तुम्हारे भले के लिए ही... " इला ने हाथ बढ़ा कर मेरी मर्दानी हथेली को हल्के से छुआ और कहा, "तुमसे विनती करती हूँ, प्लीज़, अभी वह सब नहीं, इस समय नहीं।"
टैक्सी जब होटल के पोर्च में रुकी, तब तक हम चुप रहे। इला ने पर्स से चाबी निकाली और सामने खड़े लड़के को पकड़ दी, "साहब का सामान कमरे में रख दो..." फिर मुझसे पूछा, "कुछ हाथ-मुंह धोओगे या कि सीधे कॉफी पीने चलें?"
"तुम यहीं ठहरी हो?" मैंने पूछा। इस डीलक्स होटल में? शायद यह बिना पूछे मेरी आवाज़ में आ गया था।
"हाँ... और तुम भी।" उसने कहा, "मेरे अतिधि की तरह।"
"मगर इला..."
"इला-विला कुछ नहीं," उसने कहा। ऐसा लगा कि जैसे वेटर उसे पहचानते हैं। हमें तुरंत अच्छी सी मेज़ मिल गई। गरमा-गरम कॉफी हमारे सामने आ गई। सामने स्वीमिंग-पूल था। उसके आगे दुर्ग की मोटी दीवारें और उनको हल्के हल्के सहलाता हुआ अरब सागर। धूप की चमक पानी पर अब भी इतनी तेज़ थी कि आँख नहीं ठहर रहीं थी, पर इला एकदम चुप हो आई और टकटकी लगाकर कहीं दूर क्षितिज को ताकने लगी। मैंने सिगरेट सुलगाई और पूछा, "तुम कब बात करना चाहोगी?"
उसने मुझे देखा, "पूछो, मगर एक शर्त पर कि तुम बात करने के बाद तुरंत बंबई नहीं लौट जाओगे, कुछ दिन रुकोगे।"
"कुछ दिन? मेरे पास इतना समय ही नहीं है, कलकत्ता, मद्रास, वाल्तेयर, नेपाल सभी जगह जाना है। "
"मालूम है, श्रीयुत डीन साहब? "
"मुझे विश्वविद्यालय ने काम से भेजा है। यह मज़े के लिए ट्रिप नहीं है।"
"मुझे मालूम है, मगर क्षण को बर्बाद करने की तुम्हारी क्षमता मुझे हर बार चकित करती है। कम से कम यह धूप, यह आसमान, यह समुद्र-गंध की साफ़ हवा, इस पर तो एक पल ठहरो... " उसने लंबी सांस ली, "पूछो, क्या पूछना है?"
मैंने अपना ब्रीफ़केस खोला। जिसे वह समय का सुख कहती है, वह मेरे लिए है बरबादी, ठीक है, समुद है, हवा, आसमान, हर जगह है, उसमें डूबकर निष्क्रिय बैठना मेरी समझ में नहीं आता। ब्रीफ़केस खोल कर बायोडाटा निकालकर मैंने कलम खोली और पूछा, "तुमने जो तीन लेख छपने भेजे थे, उनमें से कौन कौन से छप गए हैं?"
"एक भी नहीं। एक वापिस आ गया। एक जापान की साहित्य पत्रिका में छप रहा है, एक प्रकाशक ने अभी जबाब भी नहीं दिया।" उसके लापरवाही भरे जवाब से सचमुच मुझे दुःख हुआ। कैसी है यह लड़की, क्या इसे अपनी ज़िम्मेदारी का कोई अहसास नहीं, कितना कुछ घट चुका है और यह है कि वैसी की वैसी।
"तुम्हें मालूम है कि तुम्हारी नौकरी स्थायी करने के लिए जो कमेटी बनी है, उसका अध्यक्ष मैं हूँ।"
"तुम हो?" उसने सीधे मेरी और देखा। फिर पूछा, "और कौन कौन हैं?"
"तुम्हें विभागाध्यक्ष की चिट्ठी मिली होगी। "
"मैं वे चिट्ठियां खोलती नहीं।"

मैंने इला के चेहरे को ध्यान से देखा। शाम के धुंधलके में बदसूरत चेहरों पर भी लावण्य आ जाता है, पर इला का चेहरा वैसा ही था, खुला हुआ, आयात योग्य, उसके रंग में काफ़ी कलौंस आ गई थी और आंखों के नीचे धब्बे दिखाईं दिए, जो पहले नहीं थे। हिन्दुस्तान आकर उसका हठीला जिस्म हमेशा भर जाता था, पर इस समय वह काफ़ी कमज़ोर सी लगी।

"मैं वे चिट्ठियां खोलती ही नहीं," उसने दोहराया।

"कमेटी में तीन लोग हैं, आर्थर, तुम्हारा विभागाध्यक्ष और विमेन्स स्टडी से अन्ना फ्रैंक। हम सबने तुम्हारा बायोडाटा बारीक़ी से देखा है और इसी निश्चय पर पहुंचे कि तुम्हारा प्रकाशकीय पक्ष कमज़ोर है। तीन लेख छप जाते और यह पुस्तक कोई प्रकाशक ले आता तो तुम्हारा केस काफ़ी मज़बूत हो जाता।"

"छपाओ या मरो," उसने अमरीकी विश्वविद्यालय में प्रचलित नारा धीरे से दोहराया। फिर उसने कहा, "देखो राघव, इतना लंबा चेहरा न बनाओ। सब ठीक हो जाएगा," दिलासा देने मैं आया था, दिलासा की ज़रूरत इला को थी, जिसका पूरा भविष्य एक बहुत नाज़ुक से धागे से टंगा हुआ है। और वह है कि माथे पर बड़ी सी बिंदी लगाए बैठी है और धीरे-धीरे कॉफी पी रही है। मुझे लगा, यह ठीक नहीं है; उसे यह अमूल्य समय इस तरह नहीं गंवाना चाहिए, उसे पुस्तकालय में होना चाहिए। टाइपराइटर खटखटाना चाहिए, गंभीर पुस्तकें छापने वाले प्रकाशकों और यूनिवर्सिटी प्रेसों को चिट्ठियां लिखनी चाहिए।

"तुम्हें रूल तो मालूम ही है, तुमसे ज़ुबानी तो बता ही दिया गया है कि नौकरी के पांचवें साल के अंत तक तुम्हारे विभाग को तुम्हें यह जता देना है कि तुम्हें स्थायी कर प्रमोशन मिलेगा या फिर नौकरी ख़त्म होने का नोटिस... "

इला ने बच्चों की तरह हथेली से मुंह पोंछा, फिर पूछा, "और कुछ?"

"इला...इला..." मैंने कहा, "तुम ज़िम्मेदारी क्यों नहीं समझती? तुमने कहा कि टीचिंग का भार इतना है कि पढ़ने लिखने का समय नहीं मिलता तो तुम्हारे विभाग ने छुट्टी ही नहीं दी, रिसर्च करने और यहां आने का पैसा भी दिया। लोगों को तुमसे उम्मीदें हैं, जो तुम्हारे साथ हैं, उनका तो खयाल करो।"

"यानी तुम, तुम्हारी मैं बेतरह आभारी हूँ। पर चलते समय आर्थर ने बड़े ही पितृभाव से कहा था, 'इला, हिन्दुस्तान में किसी अच्छे आदमी से शादी करके बस जाओ। मैंने कहा, 'यहां क्यों नहीं? तो उसने कहा, 'मुझे लगता है, तुम वहीं सुखी रहोगी'।"

"फिर?" मैंने कहा।

"कहाँ मिलते हैं अच्छे आदमी," वह हल्के से हंस दी, "वे सारे तो बीवियों से बंधे बैठे हैं। "

मैंने उसके अभिप्राय को टालते हुए बात को फिर पकड़ते हुए कहा, "तुम्हें मालूम है कि तुम्हारी नौकरी पर कितने लोगों की नज़र है? तुम्हें मालूम है कि कितने लोग अंग्रेजी में पी.एच.डी. करके बेकार बैठे हैं?"

इला ने मुझे ऐसी दृष्टि से देखा है जिसमें खेद भी था, खीज भी। निश्चय ही वह यह बात बार बार सुन चुकी थी। फिर उसने उठते हुए कहा हैं, "रेत पर चलें?"

मेरी नज़र अपने जूतों और मोटे मोजों पर गई। फिर मैं जूते उतारने लगा, जूते और मोज़े लकड़ी की पुलिया के पास छोड़कर मैं उसके साथ रेत पर आ गया। कोई जूते उठा न ले जाए, मन ही मन आशंकित होता हुआ। दो बच्चे गीली रेत में खेल रहे थे और उससे कूछ दूर हटकर बैठी हुई एक

विदेशी स्त्री बोतल से ख़ालिस जिन पी रही थी। समुद की ओर से गीली गीली गंध लिए हवा आ रही थी।

"सूरज को देखो," इला ने बहुत धीमे से कहा। अब तक जिस खीज को मैं दबा रहा था, ऊपर ऊपर आने को हुई। सूर्यास्त, सूर्योदय, पूरा चाँद, फूल-पत्ते, इन सबमें मुझे कभी दिलचस्पी नहीं रही। न जाने क्यों लोग इन सब रोज़ाना की चीज़ों को लेकर उत्तेजित हो जाते हैं, पर मैं आज्ञाकारी भाव से सूरज को देखने लगा, जो कि तेज़ी से पानी में धंस रहा था। मेरे लिए वह एक सूर्यास्त मात्र था, सूरज के पानी में डूब जाने के कुछ क्षण। मैंने देखा आसपास के सारे लोग उधर ही देख रहे हैं, बच्चों ने खेलना छोड़ दिया है, विदेशी स्त्री अभी भी अपने में लीन जिन के घूँट ले रही है।

"जब सूरज डूबे तो कोई चीज मांग लेना," इला ने कहा।

"तुमसे?"

"नहीं, विधाता से।"

सूरज एकदम पानी में डूब गया, पर उस जगह अभी भी लाली थी। एक खूबसूरत, मनमोहक लाली, मुझे मानना पड़ा।

"तुमने कोई विश की?" इला ने पूछा।

"हाँ, बताऊं?"

"अभी नहीं। तुरंत बताने से पूरी नहीं होगी।"

वह एक जादू का-सा क्षण था। इला एकदम छोटी बच्ची सी लगने लगी। भोली, विश्वसनीय, आँखों से झरती आभा और हंसी भरा चेहरा। शाम की गुलाबी रोशनी उसके चारों तरफ़ झिलमिला रही थी और उसमें माथे की बिंदी अब उतनी चटक नहीं लग रही थी। तेज़ हवा में उसका पल्ला फड़फड़ा उठा तो मैंने देखा कि उसकी साड़ी नीली थी, ठीक सूर्यास्त के आसमान की तरह। नहीं, वह मुस्करा नहीं रही थी, सिर्फ लग रहा था कि जैसे मुस्करा रही हो। बल्कि मुझे लगा कि जैसे उसकी आखें गीली गीली हैं। मेरे मन में उसके लिए एकदम बड़ा ममत्व उमड़ पड़ा, और मेरे अंदर चाहना हुई कि मैं उसे सीने से लगा लूं। किसी को रोता मैं नहीं देख सकता। ख़ास तौर से इला को, जो कि हर मोड़ पर दुर्भाग्य को आमंत्रित करती दिखाई देती है।

"मैं रोज़ इस वक्त यहां आती हूँ," उसने कहा। मुझे ख़ुशी हुई कि मेरी क्षणिक दुर्बलता भंग को गई। इस छोटी सी भावुकता का कितना भयंकर परिणाम हो सकता है, यह मुझे अच्छी तरह मालूम था। आजकल के वातावरण में तो किसी स्त्री को डूबते से बचाना भी ख़तरे से ख़ाली न था। न जाने कब हल्ला मचा दे।

"यहीं?"

"हाँ, पास के गांव में ही तो रहती हूँ।" हमारे पीछे वह पांच-सितारा होटल बिखरा हुआ था, उसके कमरे और कॉटेज तारों की तरह झिलमिलाने लगे।

"मैं कहीं न कहीं ज़रूर जाती हूँ सूर्यास्त देखने, गोवा में तो समुद-तटों की कमी नहीं। आओ, वहाँ मोड़ तक चलें," हम मोड़ तक गए, एकदम चुपचाप। क्या वह भी वही सोच रही है जो कि मैं? तीन दिन बाद प्रशांत महासागर की लहरों ने अभय का शव लाकर किनारे रेत पर पटक दिया था। सुबह तक उसका आधा चेहरा चील, कौए नोचकर खा गए थे। इला ने मुझे ही फ़ोन किया था, मैं ही पहुंचा था। दाह-संस्कार का प्रबंध किया था, हवाई-जहाज़ पर सीट बुक कराई थी। पास से पैसा देकर उसे विदा किया। वह हाथों में अभय की अस्थियां लेकर जहाज पर सवार हुई थी। जाने से

पहले वह फूट-फूट कर, चीख़ चीख़ कर रोई मुझसे लिपट कर, मैंने उसके बाल थपथपाए, अंजू-संजू के पिता वाली मुद्रा में। उसका रोना सुनकर मुझे लग रहा था जैसे कि कोई मेरे शरीर से मेरी खाल खरोंच कर उतार रहा है। उस समय मुझे लगा कि यह दु:ख सच्चा है, ये आँसू सच्चे हैं। इला ने सचमुच अभय से प्यार किया है और बेवकूफ सिरफिरा अभय अपने पागलपन में ही समुद में डूब मरा है।

उसके बाद मैं यह नहीं कहूँगा कि अंग्रेज़ी विभाग में उसे नौकरी मेरी ही वजह से मिली। वह योग्य थी और विभाग को एक लेक्चरर की ज़रूरत थी।

"चलो, वापिस चलें?" वह इतनी देर चुप खड़ी खड़ी समुद्र को देख रही थी," अंधेरा हो जाता है तो मुझे समुद्र से डर लगने लगता है।" हम वापिस लौट पड़े। पुलिया के पास से मैंने जूते-मोज़े उठाए। इला जैसे कहीं दूर चली गई थी, क्या वह अब भी अभय से जुड़ी है? क्या उसमें कुछ संस्कार बचे है हिन्दुस्तानी औरत के? लीक पकड़कर तो वह कभी नहीं चली।

स्वीमिंग-पूल के पास बिजली की मशालें जलने लगी थीं और लंबे चौड़े डिनर के लिए बरतन, डोंगों का आयोजन दिख रहा था, शायद नृत्य का भी प्रबंध होगा क्योंकि बाजे-वाले अपना सामान निकाल रहे थे। उनके पीछे चार पांच दिन पहले नए साल के आयोजन में लगाईं आदमकद नकली मोमबत्तियां, जो अभी हटाईं नहीं गई थीं, जल चुकी थीं।

शुभा को यह सब अच्छा लगेगा, अनायास मुझे बीबी की याद आ गई। शुभा को नई जगहें, नए-नए होटल, नए रेस्तरां में खाना बहुत अच्छा लगता है। अगली बार उसे भी लाऊंगा, वैसे तो वह हर बार आती थी, पर इस बार संजना को उसकी ज़रूरत थी। अगर अस्पताल जाना पड़ गया तो संभालने को कोई तो चाहिए।

"कमरा किधर है?" मैंने पूछा।

"कमरे तो सभी खचाखच बुक हैं, एक कॉटेज ली है।" इला ने हिंदी में कहा है, "आपको अच्छी लगेगी। थोड़ी ऊंचाई पर है और वहाँ से दृश्य बहुत अच्छा दिखता है।"

"यह सब करने की क्या ज़रूरत थी।" मैंने शिष्टाचारवश कहा है, "एयरपोर्ट के पास ही मीटिंग कर लेते और कल सुबह की उड़ान से मैं वापिस चला जाता।"

"आपको जनवरी में गोवा की भीड़ के बारे में नहीं मालूम, यहां से निकलना इतना आसान नहीं," इला ने दरवाज़ा खोला।

सुन्दर कॉटेज की बैठक, छोटी सी रसोई। दो कमरे।

"तुम कहाँ ठहरी हो?" मैंने पूछा।

"यहीं। उस छोटे कमरे में। " वह सहज थी, "क्यों? तुम मुझसे डर रहे हो?"

वह बीचों-बीच खड़ी रह गई।

मेरे मन में बहुत सी बातें एक साथ उठीं, उससे क्या कहूँ, क्या नहीं, सोचता हुआ मैं एक कुर्सी पर बैठ गया।

"मैं सच कहती हूँ कि मुझे मालूम नहीं था कि तुम मेरी कमेटी के अध्यक्ष हो। मुझे जब तुम्हारा ख़त मिला कि तुम मुझसे कुछ बात करना चाहते हो तो मुझसे जो कुछ आतिथ्य बन सका, किया। तुम बरसों से एहसान करते आ रहे हो। मैं तो बदले में कुछ नहीं दे सकी। सोचा कि तुम उस ठण्ड, बरफ़, भीड़, दूषित वायू में से आ रहे हो, गोवा में कुछ समय अच्छा लगेगा। तुम्हारी शाही स्टाइल से परिचित हूँ। इसीलिए यहीं प्रबंध किया। इसे रिश्वत के रूप में न लो।"

"सो नाइस ऑफ़ यू," मैंने कहा, "मेरे बारे में यह सभी को मालूम है।"
"कि तुम हर प्रकार की रिश्वत से ऊपर हो, कि तुम शुद्ध और प्रबुद्ध हो, कि छब्बीस साल में शुभा के अतिरिक्त तुमने किसी को आँख उठाकर भी नहीं देखा। फिर दूसरे कमरे में मेरे रहने से क्या फर्क पड़ता है?"
"वह सब ठीक है, मगर एक सामाजिक मर्यादा भी होती है। एक ही कॉटेज में साथ रहना ठीक नहीं होगा। तुम खाने के बाद गांव क्यों नहीं चली जातीं?"
वह एकटक मुझे देखने लगी।
"ठीक है," उसने अचानक हिंदी में कहा, "आप आराम कर लीजिए, मैं अपना कोई दूसरा प्रबंध कर लूंगी। "
"मैं खाना अगर बाहर न खाऊं तो तुम्हें आपत्ति नहीं होगी? मैं थका बहुत हूँ, सिर्फ एक सैंडविच और सूप से काम चल जाएगा।"
उसने कहा, "मगर आज बाहर बहुत अच्छा बुफ़े हैं। गोवानीज़ खाना, असली।"
"भूख नहीं है। "
"अच्छा," कहकर वह दूसरे कमरे में चली गई और उधर से बहुत देर तक कोई आवाज़ नहीं आई।
मैंने जब इला को पत्र भेजा था तो दूसरे ही सीनेरियो की कल्पना की थी। चाय-काफ़ी के बाद ब्रीफकेस खोलूँगा और उसके बायोडाटा को गहराई से जाचूंगा। उसकी बात सुनूंगा। आखिरकार, आर्थर और फ्रैंक ने सारी ज़िम्मेदारी मुझ पर छोड़ दी है। दोनों घुटे हुए और घाघ हैं। उस कमेटी में मुझे रखा ही इसलिए गया है कि मैं दक्षिणेशियाई हूँ। हम सभी इला के साथ पूरा न्याय करना चाहते हैं, उसके पूरे भविष्य का प्रश्न है, विभाग की छवि का प्रश्न है। वैसे भी अंग्रेज़ी विभाग में पुरुष और स्त्रियों का अनुपात असंतुलित हैं। सरकार की और से कई अध्यादेश आ चुके है कि स्त्रियों और अल्पसंख्यकों को बढ़ावा दिया जाए। इला के स्थायी हो जाने में सभी का भला है। (स्त्री भी और एशियाई अल्पसख्यक भी) अगर ज़रा भी गड़बड़ हो गई तो विश्वविद्यालय का फ़ेमिनिस्ट ग्रुप 'अन्याय, अन्याय' चिल्लाता हुआ मुकदमा ठोक देगा। और इला है कि अपने उसी ग़ैर-ज़िम्मेदाराना तौर तरीके से, उसी अल्हड़पने से अपना दायित्व नकार रही है। अभी मुझे हैदराबाद जाकर कादम्बरी का भी इंटरव्यू करना है। कादम्बरी अपनी पी.एच.डी. थीसिस ख़त्म कर चुकी है और पति-पत्नी दोनों ही पश्चिम वापिस लौटने को अधीर हैं। कादम्बरी के भारी-भरकम शरीर और ठेठ गँवारू चाल-ढाल को याद कर मेरा दिल बैठने लगा। इला यूनिवर्सिटी में नहीं रहेगी। शहर में नहीं रहेगी तो कैसा लगेगा?
मैं इंतज़ार में था, इला बाहर आए तो अंदर से दरवाज़ा बंद कर मैं कपड़े बदलूं। पाजामा-कुर्ता पहनकर चैन से बैठूँ। इस बीच मैं खिड़की से बाहर देखने लगा। रात का रंग ऐसा होता है, समुद्र के पानी में घुला मिला, नीचे से पाश्चात्य संगीत के स्वर ऊपर आते हैं, धीमी-धीमी गति की धुन, शायद कुछ लोग उठकर नाचने लगे होंगे।
इला बाहर आई। उस समय वह बहुत साधारण, बहुत मामूली सी दिख रही थी। सत्ताईस अट्ठाइस साल की एक पढ़ी-लिखी लगने वाली स्त्री मात्र, "तो मैं जा रही हूँ। हालांकि आपको या आपकी रेपुटेशन को मुझसे कोई ख़तरा नहीं था, मगर हमेशा की तरह आप ठीक और सूझ-बूझ की बातें कहते हैं। आपको अपनी छवि का खयाल रखना है। शार्क-मछली की तरह आदमख़ोर इला के साथ एक ही कॉटेज में आप कैसे रह सकते हैं?"

मैं चुप हूँ। इस बात का उत्तर ही क्या है?
"तुम यह सब न करतीं तो अच्छा रहता," मैं सोचकर उत्तर देता हूँ, "बाहर से देखने वालों को तो यह रिश्वत जैसा ही लगेगा न? मैंने जब अध्यक्ष पद स्वीकार किया था, उसके पीछे सिर्फ़ तुम्हारी मदद करने का भाव था। औरों को भी लगा कि ज़फ़र या फिर गिरिराज को कमेटी में रखना शायद उचित न हो।"
"क्यों?" इला ने काटते स्वर में पूछा, "उनके रहने से मुझे ज़्यादा मदद मिलती? आखिरकार उनके अनुसार वे दोनों ही मेरे प्रेमी रह चुके है न?"
कमरे में चुप्पी रही। ज़फ़र और गिरिराज दोनों ही इला के विभागीय सहयोगी हैं।
"सच्चाई तो यह है कि जो लोग घूम-घूम कर मेरे खिलाफ़ प्रचार करते हैं, उन्हें मैंने कभी अपने पास फटकने भी नहीं दिया। यह उनका आहत पुरुषत्व ही है, जो फैंटेसी गढ़कर... "
"वे सब यूनिवर्सिटी के जाने-माने लोग हैं," मैंने बात काटकर कहा।
"यूनिवर्सिटी का जाना-माना होना कोई शराफ़त का पूरा सबूत तो नहीं? जो आदमी अध्यापक या स्कॉलर हो, वह लुच्चा या शोहदा नहीं ही सकता, यह कहीं लिखा है?" वह थोड़ी-थोड़ी उत्तेजित को चली थी, "फिर मैं यूनिवर्सिटी में नहीं पढ़ाती? फिर मैं ही चरित्रहीन क्यों कहलाई जाती हूँ?"
"तुम्हारी बात दूसरी है," मेरे मन में वर्षों का संचित क्रोध अनायास मेरी ज़ुबान पर आ बैठा।
"क्यों दूसरी हैं? क्योंकि मैं औरत हूँ, इसलिए? मैं अकेली हूँ, इसलिए?"
"यह सवाल स्त्री-पुरुष का नहीं है, अपनी-अपनी छवि का है," मैंने कहा।
"ओह... आई सी। सत्रह साल की उम में मैं घर से भाग गई थी, इसलिए न? मेरे पति ने समुद्र में डूबकर आत्महत्या कर ली, इसीलिए न?"
"इला... तुम बेकार में बहस कर रही ही। जो तुम हो, वह तुम भी जानती हो और मैं भी... "
"आप जानते हैं? त्रिकालदर्शी है न? अन्तर्यामी हैं? कहाँ क्या घट रहा है, आपको सब पता रहता है?"
"इला... तुम बेकार में उत्तेजित हो रही हो। इन सब बातों से फ़ायदा ही क्या? तुम अगर आधे शहर को प्रेमी बनाकर रखना चाहती हो तो यह तुम्हारा विकल्प है..."
"ओह माई गॉड," उसने कहा, "तुम कुछ सुन रहे हो कि तुम्हारी आवाज़ में कितनी हिकारत है? एक पुरुष पचास स्त्रियों से प्रेम करता फिरता है, उसे तुम्हारा समाज कुछ नहीं कहता? एक स्त्री अगर अकेली, सम्मान से जीना चाहती है तो चारों तरफ़ से गिद्ध उसे नोच खाने की तैयार रहते हैं।" इला की आवाज़ तेज़ ही गई थी, क़रीब क़रीब चीख़ने के स्तर तक, आसपास के लोग डिस्टर्ब हो रहे होंगे, मुझे डर लगा। मैंने नरम पड़ते हुए उसकी बांह पकड़कर बैठाते हुए कहा, "इला, शांत हो जाओ, आसपास के लोग क्या सोचेंगे?"
इला ने झटक से अपनी बांह छुड़ा ली और कमरे में बेहद उत्तेजित होकर चक्कर लगाने लगी, "और होता क्या है चरित्रहीन होना? चरित्र है क्या? क्या है उसकी परिभाषा? उसका सामाजिक सन्दर्भ दिया किसने है, तुम्हीं पुरुषों ने न? ठीक है, मान भी लो अगर समय के बाद मेरे प्रेमी रहे भी तो क्या? मुझमें कोई गंदगी लगी रह गयी? मै जानती हूँ मैं क्या हूँ, आई एम ए गुड ह्यूमन बींग, मुझमें उदारता है, करुणा है, सच्चाई है... "
"सच्चाई? " मैंने बेहद व्यंग्य से कहा।
"हाँ, सच्चाई।" वह एकदम शांत हो गई। उसने धीमे मगर दृढ़ स्वर में कहा, "अगर तुम ज़फ़र और

गिरिराज की बातों को सच समझते हो और मुझे झूठा...तो यह तुम्हारा विकल्प है, तुम्हारा दुर्भाग्य..." उसके चेहरे पर उत्तेजना की वजह से जो रंग दौड़ गया था, एकदम रिस गया। उसकी आँखें अब जैसे दृष्टिहीन, वह एकदम बौनी हो आई थी। सिमटी-सिकुड़ी।"

"इतनी हिंसा...इतना प्रतिकार...मुझे मिटा देने की इतनी तिलमिलाहट, कितने दयनीय है वे तुम्हारे मित्र...यूनिवर्सिटी के ये जाने-माने लोग।"

"इला, प्लीज़, अब तुम जाओ।" मेरा हाथ अपने आप दरवाज़े की ओर उठ जाता है। मैं थक रहा हूँ, आराम करना चाहता हूँ।" इला आँधी की तरह बाहर निकल गई। उसके पीछे दरवाज़ा भाड़ से बंद होता है।

"नाटक, घोर नाटक।"

नहाकर और कपड़े बदलकर अपने सूप और सैंडविच का इंतज़ार करते हुए मुझे बराबर लगता रहता है कि मै सचमुच भोला और बेवकूफ़ हूँ। सोचा था कि छुटटी लेकर इला गंभीरता से रिसर्च में जुटी होगी। अंग्रेज़ी में लिखी जाने वाली आधुनिक कविता पर उसकी किताब करीब-करीब आधी तो ही ही गई होगी। वह वहीं गोवा में बैठी मौज उड़ा रही है, महंगे होटल में खा-पी रही है। और मुझे यहां ठहराना और यह मासूम, निश्छल भाव शायद मुझे प्रभावित करने के सस्ते तरीके हैं। एक बार उसके साथ मेरा नाम जुड़ गया तो? वह तरह-तरह से मुझे ब्लैकमेल कर सकती है। मुझे शुभा की याद आती है, अपनी पचास साला उम्र के साथियों की, अंजना, संजना, घर-जंवाई दामादों की, नातियों की, यूनिवर्सिटी में मेरी कितनी इज़्ज़त है। इंटरनेशनल स्टडीज़ का अध्यक्ष और डीन हूँ। प्रेजिडेंट के ऑफिस में मेरी राय पूछी जाती है, वाइस-प्रेजिडेंट बनने बनने के चांस हैं, वह सब एक भावुकता में बहा दूं। अभय की विधवा इला की मदद करने के लिए। दरवाज़े पर हल्की दस्तक होती है, बैरा है - ट्रे वह मेरे सामने सजा देता है।

खा-पीकर मैं सिगरेट सुलगाता हूँ तो एकबारगी हर चीज़ सही परिप्रेक्ष्य में दिखाई देने लगती हैं। मैं बेकार ही परेशान ही रहा हूँ, अगर इला कुछ उचित अनुचित का दावा भी करेगी तो क्या लोग उसे मान लेंगे? कहाँ वह और कहाँ मेरा बेदाग नाम, मेरे ऊपर कोई उंगली उठा भी कैसे सकता है? फिर भी ज़फ़र की बातें एक बार फिर मन में कुलबुला उठीं, "अरे राघव साहब, क्या बॉडी है उसकी। साफ़-शफ़्फ़ाक़, झकाझक, एकदम संगमरमर, कहीं एक भी दाग या धब्बा नहीं, एक तिल तक नहीं।"

मुझे ऐसी बातें सुनना अच्छा नहीं लगा, "तुम बहुत पी गए हो, ज़फ़र, किसी शरीफ़ स्त्री के बारे में यह सब कहना ठीक नहीं।"

"आप पर भी कहीं उसका जादू तो नहीं चल गया? बहुत ख़तरनाक औरत है, मारकर तड़पने भी नहीं देती। छुरी है छुरी...चलूं.....वह मेरे इंतज़ार में होगी।" पार्टी की समाप्ति पर शुभा सब बरतन धो-पोंछ कर ऊपर जाने लगती है। रसोई की बत्ती बंद करते हुए मैं कहता हूँ, "शुभा, ज़रा सिगरेट लाने जा रहा हूँ पर मै सिगरेट लाने की बजाय इला के फ़्लैट की ओर गाड़ी मोड़ देता हूँ। चौमंज़िली इमारत एकदम अंधेरी है, इला का फ़्लैट भी। मुझे यह सब करने का क्या अधिकार है? मैं अचानक ग्लानि से भर उठता हूँ, इला युवती है, आकर्षक और विधवा...उसे अपनी ज़िंदगी अपनी तरह से जीने का अधिकार है। जिससे चाहे, जितनों से चाहे प्रेम करे। मै वापिस आ जाता हूँ।

ऐसी बातें सिर्फ़ ज़फ़र ही नहीं करता और लोग भी करते हैं। इला की विद्यार्थी, इला का दूसरा सहयोगी गिरिराज...धीरे-धीरे पार्टियों में से उसका नाम कटने लगता है और उसे लेकर इतनी चर्चा

होने लगती है कि शुभा, अंजना, संजना को सख़्त ताक़ीद देती है कि वे इला से कोई संपर्क न रखें। इला जब भी सामने पड़ती है, मुझे उसका चेहरा देखकर विश्वास नहीं होता कि वह सब सच होगा। मगर लोग झूठ भी क्यों कहेंगे? वे केवल इला को लेकर ही क्यों कहते है, और भी तो कितनी औरतें हैं, किसी और को लेकर क्यों नहीं? पहले अंजना की शादी होती है फिर संजना की, मैं उसे बुलाना चाहता हूँ, पर शुभा कहती है कि अगर इला आएगी तो उसकी काफ़ी सहेलियां शादी का बहिष्कार कर देंगी क्योंकि वे सब शरीफ़ हैं। इला जैसी लड़की के साथ कोई नहीं उठना-बैठना चाहेगा, पर इला को निमन्त्रण ज़रूर जाएगा। मैं अड़ जाता हूँ, "लोग तुम्हें भी उसकी सूची में जोड़ लेंगे।" शुभा कहती है, "तुम क्यों ज़िद पकड़ रहे हो?"

"क्योंकि इला अभय की बीबी है और अभय तुम्हें दीदी कहता था...भूल गई क्या?"

"नहीं, भूली नहीं हूँ पर दुनियादारी तो निभानी ही है।"

अंजना की शादी, मंडप, शामियाना, रिसेप्शन, इला नहीं बुलाई गई। एक दिन यूनिवर्सिटी के किसी रिसेप्शन पर मुलाकात होती है, वह हम दोनों को देखकर भी अनदेखा कर देती है। मुझे अंदर कहीं कचोट उठती है, हमने ज़फ़र को बुलाया या, गिरिराज को भी सपरिवार, मगर इला को नहीं। क्यों वही सम्माननीय बने रहे हैं, देखा जाए तो इला अकेली है, अपने आचरण के लिए खुद ज़िम्मेदार है, पर ये लोग तो बीवी बच्चों वाले हैं।

इला खड़ी-खड़ी औरतों से बात करती है, हमारे पास तक नहीं आई। लौटते समय शुभा कहती है, "देखा तुमने, तुम्हें हेलो तक नहीं किया उसने। तुमने क्या नहीं किया इस औरत के लिए, अभय मरा तो दौड़े गए, आर्थर से कहकर नौकरी दिलवाई, अब उसे तुम्हारी क्या ज़रूरत?" ज़रूरत तो पड़ेगी, मैं मन ही मन सोचता हूँ। तीन साल पढ़ा लेने के बाद स्थायी होने का प्रश्न उठेगा, उस कमेटी के लिए आर्थर मुझसे ज़रूर कहेगा, तब तो ज़रूरत पड़ेगी। तीन साल बाद जो कमेटी बनी, उसमे मैं नहीं था, ज़फ़र था। और ज़फ़र ने इला की इतनी कड़ी आलीचना की कि कमेटी ने उसे केवल एक साल की अवधि दी।

साल भर बाद फिर रिव्यू होगा, और तब फिर निर्णय होगा, और उस दूसरे साल भी उसे स्थायी नहीं किया गया; एक साल की अवधि और दी गई और अब, न जाने क्या सोचकर आर्थर ने ज़फ़र को कमेटी से हटाकर मुझे अध्यक्ष बना दिया था। और मैं तहेदिल से इला की मदद करना चाहता रहा था, पर ऐसे नहीं। अपने नाम और इज्जत को मिटाकर नहीं। मैं जाकर इला से मिलूँगा, यह सुनकर गिरिराज मेरे कमरे में आए थे। कुर्सी उनके बैठने से ज़रा सी चरमराई थी, "अच्छी तफ़रीह रहगी।" उन्होंने कहा। पान तो यहां मिलते नहीं थे, हर समय पान मसाला और ज़ाफ़रानी पत्ती चबाते रहते थे, "अच्छी तफ़रीह रहेगी। अब तक कोई उल्लू फांस लिया होगा। मज़े उड़ा रही होगी। अब उसकी छुटटी करिए और कादम्बरी को नियुक्त करवा दीजिए।" कादम्बरी के पति सदानंद से गिरिराज के पुराने सम्बन्ध थे, उनके चमचों में वह प्रमुख थे। गिरिराज का वरदहस्त उन पर हमेशा रहता था।

"कादम्बरी को क्या आता जाता है?" मैंने कहा। फ़ोन आ जाने पर मुझे गिरिराज से छुटटी मिली। कभी-कभी मुझे लगता था कि मैं ही हूँ एक ऐसा, जिस पर इला की कृपादृष्टि नहीं पडी। मुझे उसने कभी अकेले में खाने पर नहीं बुलाया, कभी गोदी में सिर छुपाकर रोई नहीं, कभी भरी रात में फ़ोन करके नहीं कहा है तुरंत आओ, नहीं तो मैं फांसी लगा लूंगी। अगर वह कहती भी तो मैं यही करता, जो मैंने अब किया है। उसने बाहर का दरवाज़ा अंदर से बंद कर लिया है। वह जहां भी जाए, कम से कम मेरे साथ एक कॉटेज में नहीं रह सकती। मुझे अपना बचाव करना ही है।

अभय उन दिनों अक्सर मेरे पास आता। था तो वह मेरे सहपाठी अमृत का सबसे छोटा भाई पर मेरा व्यवहार उसके प्रति हमउम्र का-सा ही था। शुभा उन दिनों अंजू-संजू को लेकर काफ़ी व्यस्त रहती थी। वह काफ़ी संघर्ष का समय था, मुझे अपने पाँव जमाने थे, पुस्तकें लिखनी थीं, नाम कमाना था। सब मायनों में सफल होना था। उन दिनों एक पागल महत्वाकांक्षा मुझे बराबर आगे, और आगे ठेला करती, सचमुच कुछ बनने की। अपने टेढ़े मुंह वाले ससुर को दिखा देने की कि मैं क्या कुछ नहीं बन गया हूँ। शुभा से शादी उन्होंने बडी मुश्किल से की थी। कॉलेज के दिनों का रोमांस था जिसकी परिणति विवाह ही थी। मेरे लेक्चररी के फटीचर दिनों में शुभा के आई.ए.एस. पिता मुझे दामाद रूप में ग्रहण करने के लिए बिलकुल तैयार नहीं थे। मेरे पी.एच.डी. के लिए येल जाते हुए उन्होंने साफ़ मना कर दिया था। कुछ-कुछ यह भांपते हुए भी कि शुभा और मैं काफ़ी घनिष्ठ हो गए हैं। तीन साल बाद जब मैं अमरीकन यूनिवर्सिटी की पी.एच.डी. और तीन साल की नौकरी का कॉन्ट्रैक्ट हाथ में लेकर वापिस आया तब तक वह शादी करने के लिए तैयार हो चुके थे पर उनकी अकड़ अभी गई नहीं थी। वैसे शुभा में कोई ख़ास बात नहीं थी, नाटे कद और कुछ गठे बदन की लड़की थी, सांवले रंग और साधारण नाक-नक्श की, सिर्फ़ पिता के पद का सहज आभिजात्य था। दूसरे, वह मेरी पहचान की सभी लड़कियों की तरह मुझ पर बेहद रीझी हुई थी। शुभा की असली मिठास तो मैंने शादी के बाद पहचानी, जिसमें मैं ऐसा बिंधा कि बरस पर बरस निकल गए और मुझे किसी दूसरी औरत की पहचान नहीं हुई। अपनी जमी-जमाई गृहस्थी के बीच सुरक्षित मुझे अभय पर कभी-कभी बहुत तरस आता। वह हमेशा घबराया-सा और अकेला महसूस करता था। उसे कहीं चैन नहीं था, न नौकरी में, न धन-दौलत में, न भारत में, न पश्चिम में, वह बार-बार भारत जाता, दर्जनों लड़कियां देखकर नापसंद करता, लौटकर आता और अपने को उसी वातावरण में फिट करने की कोशिश करता।

मेरे एक बार भारत आने पर जब अमृत से मिला तो उसने कहा, " बेचारे अभय के साथ बड़ी ट्रेजेडी हो गई।"

"क्यों?" हम सबने चौंक कर पूछा, "क्या हुआ?"

"गधा है। एक बड़ी ही चालू लड़की ने उसे फांस लिया। बिना हमारी राय लिए उसने शादी कर डाली।"

च च च, हमने दु:ख प्रकट किया। कितने अच्छे रिश्ते उसने ठुकरा दिए थे, कितनी लड़कियों का उसने दिल तोड़ा था।

"कौन है?" शुभा ने पूछा।

"एक आर्मी-कर्नल की बेटी। बेतरह बदनाम माँ, जिसके प्रेमी ने कर्नल को गोली मार दी, मुकदमे चले, वो भी उसी तरह, छोटी उम्र में घर से भाग गई। पकड़ी गई। फिर होस्टल में रहकर पढ़ी।"

"यह सब हुआ कैसे?" शुभा ने पूछा।

तब तक मीनाक्षी हमारे पास आकर बैठ गई। उसकी भौंहें तनी हुई थीं, "राघव भाई, इन्हें समझाइए। अब वह घर की बहू है। अब अपने घर की इज़्ज़त उसी के हाथ में हैं। यह सभी से कहने लगते हैं, उससे फ़ायदा क्या? मुझे तो लड़की अच्छी लगी। अभय के आगे-पीछे घूमती है। बिलकुल अच्छी बीबी की तरह," अमृत ने कहा है, "वह आकर जीजी-जीजी कहने लगी और वह रीझ गई।"

"बचपन में ग़लती हो ही जाती है। मालूम नहीं उसकी लाइफ़ कितनी दुखी रही होगी। माँ की

बदचलनी का यह मतलब तो नहीं कि लड़की भी वैसी ही निकले... " मीनाक्षी ने अमृत को झिड़का, "अपने को ही ली। शुभा की गाड़ी में लदकर हम चारों डाकबंगले में नहीं जाते थे? जिन्हें हम रविवारीय पिकनिक कहते थे। वह आवारापन नहीं था? अगर तुम्हारी मुझसे और शुभा की राघव से शादी न हुई होती तो हमें दुनिया बदचलन नहीं कहती?"

"हम लोग ऑनरेबल निकले।"

"और इला का दोस्त अपने माँ-बाप से डर गया...यही न, उसने इला की छोड़ दिया। इसमें इला का क्या दोष?"

"अरे मीनाक्षी, छोड़ो भी अभय और उसकी बीबी को। अभय बच्चा नहीं है, मगर तुमने कॉलेज की बात करके उन दिनों को फिर ताज़ा कर दिया है," मैंने कहा और अर्थ-भरी दृष्टि से शुभा को देखा। शुभा मुस्कराने लगी। एक नई दुलहन की तरह, लाज भरी हंसी। हम लोग वापिस अपने होटल बहुत देर में पहुंचे, वहाँ अभय बैठा हुआ था, साथ में बीबी भी थी। पहली नज़र में मुझे निराशा सी हुई, जैसी छवि मन में आ गई थी, उससे लड़की का तालमेल नहीं बैठ रहा था। चेहरे से वह बहुत सौम्य और मृदु लग रही थी, आवाज़ उसकी संयत और कोमल थी। शुभा, जिसके स्वभाव में पिता का अकड़पन घुला हुआ था और मौक-बैमौके उभर आता था, इस वक्त एकदम रूखी को गई थी। उसी क्षण न जाने क्यों मैं तटस्थ होकर शुभा को देख सका, अगर वह मेरे कॉलज के दिनों की प्रेमिका न होती तो मैं कहता कि वह एक बेहद मामूली औरत थी, आराम की ज़िंदगी में डूबी हुई, सफल पति के पद के सभी उपकरणों से भरपूर, कानों के लंबे छेदों में झूलती डायमंड की बाली, हाथों में डायमंड रूबी की चूड़ियाँ, महंगी साड़ी के बॉर्डर पर टिका मंगलसूत्र उसका शरीर और चेहरा, ब्यूटी ट्रीटमेंट और हैल्थ प्रोग्राम के बावजूद ढीला लग रहा था। क्या यही बात थी अभय की बीबी इला और उसकी ताज़गी में? उसे देखकर अपने-अपने पास जो है उसे दोबारा टटोलकर देखकर तसल्ली करने का मन होता था। नीचे जाते हुए मैंने शुभा के कंधे पर हाथ रख लिया। डाइनिंग-हाल में बैठे क़रीब-क़रीब सभी लोग हमें देखने लगे। हम काफ़ी अलग और सफल दिख रहे होंगे। हम जब गोल मेज़ के इर्द-गिर्द बैठे तो मैंने पाया कि इला मेरे पास बैठी है। मेन्यू हाथ में लेकर मैंने सबकी पसंद पूछी। सबसे पहले मैंने अपनी पसंद बताई,"मैं रेशमी क़बाब लूँगा, मगर एक पूरी प्लेट मेरे लिए बहुत होगी... "

"मैं आपके साथ शेयर कर लूंगी," उसने हल्के स्पष्ट शब्दों में कहा। मेरी अमृत से नज़र मिल गई। अमृत ने मुझे आँख मारी, जिसमें उसकी ओर एक भद्दा इशारा सम्मिलित था। मैंने सकपकाकर देखा इला को, उसका चेहरा एकदम फक्क हो आया। यह स्पष्ट था कि उसने अमृत को देख लिया था। मैंने अपने को एक बड़ी ही अजीब स्थिति में पाया। एक क्षण स्तब्ध रहकर मैंने कुछ संभालता चाहा, "और क्या लेंगी आप?" वह देर तक चुप रही। मुझे लगा कि वह एकदम हमें छोड़ कर कहीं चली गई है, कहीं दूर, कहीं अपने अंदर और मेरे पास सिर्फ़ उसकी निर्जीव देह बैठी है। सिकुड़ी हुई, सिमटी हुई। मैं अगर उसे उंगली से हिला भी दूं तो वह एकदम राख के ढेर की तरह ढह जाएगी।

"और क्या लेंगी आप?" मैंने फिर पूछा। मैंने पाया कि मेरा स्वर बहुत कोमल और पुचकार भरा हो आया है। जैसे अंजू और संजू को चोट लगने के बाद मना रहा होऊं। उसने आँखें उठाईं। वह साफ़, उजली दृष्टि थी, कृतज्ञ और हल्की पनीली। उसने क्या कहा था, यह मैं नहीं सुना। उस समय न जाने क्यों अभय के भाग्य से ईर्ष्या सी हुई। मैंने कहा, "अमृत ने बहुत पी रखी है। इसलिए इससे

कुछ भी पूछना बेकार है।" यह कहकर मैंने अभी अभी जो घट गया था, उस अप्रिय प्रकरण को नकार दिया। मैंने देखा कि इला ने बहुत कम खाया है, केवल चखकर ही छोड़ दिया। खाने के दौरान उसने मुझे बताया कि वह दिल्ली के एक नामी कॉलज में पढ़ाती रही है।

"राघव दा, अब मैं लौटकर फिर अपनी पुरानी पोज़ीशन में आ रहा हूँ," अभय ने उत्साह से बताया, "इला आगे पी.एच.डी. करना चाहती है। इसीलिए कब से आपसे मिलने को पीछे पड़ी थी।"

रात काफ़ी बीत चुकी थी। मैंने अपने को बेहद थका पाया। टैक्सी में बैठते हुए अमृत ने कहा, "उससे सावधान रहना। तुम फंसने वाले जीव नहीं हो, फिर भी दूर रहना ही ठीक है।"

उस रात मैं बिस्तर पर आना टालता गया। इच्छा न होने पर भी रात गए रूम-सर्विस से बीयर मंगाकर पीने बैठ गया। शुभा तैयार होकर पलंग पर लेट गई थी। बोली, "लड़की में सिर्फ़ रंग ही रंग है, ऐसी सुन्दर तो नहीं कि सारा जमाना डुल जाए। अमृत क्या कह रहे थे?"

"तुम तो जानती ही हो, पीने के बाद ऊटपटांग बकने लगता है।"

शुभा ने कहा, "वह तो हमेशा से ऐसे ही थे। कॉलेज में भी। पता नहीं तुम्हारी क्यों उसे इतनी घुटती है।"

"शुभा, हमारी शादी उसी ने करवाई थी," मैंने कहा।

शादी के नाम पर शुभा की जैसे कुछ याद आ गया, "तुम कब तक बैठे रहोगे? मैं कब तक जागती रहूँ?"

उसने पतले पारदर्शी बादलों की तरह झिलमिल कपड़े पहन रखे थे, तकिए पर उसका सिर टिका हुआ था, उसने गरदन मोड़कर जैसे मुझे देखा, उसमें स्पष्ट ही आमंत्रण था। मैं बिना कुछ कहे अपनी बीबी को ताकता रहा। वह एक अच्छी बीबी थी, इसमें शक की गुंजाइश नहीं थी। भल-बुरे में मेरा साथ निबाहती आ रही थी और मैं भी भरसक उसे खुशी देने की ही कोशिश करता रहा था। शादी के ग्यारह महीने बाद ही जुड़वां लड़कियों के होने से वह बहुत व्यस्त और परेशान हो गई थी और उनके पालने में उसका काफ़ी समय चला जाता था। फिर भी मुझे कभी अकेला नहीं लगा; किसी और की ज़रूरत महसूस नहीं हुई। शुभा अब भी मुझे देख रही थी। मैंने गिलास आधा छोड़ दिया और कपड़े बदलने गुसलख़ाने में चला गया। जब मैं बाहर आया तो वह गाढ़ी नीद में सो गई थी। मेरी प्रौढ़ और ढलती हुई बीबी, मैं उसके प्रति ढेर से स्नेह और अनाम कृतज्ञता से भर गया। कमरे में रात का सन्नाटा भर उठा था। होटलों के कमरे एक ही जैसे होते हैं, पलंग, सिरहाने, मेज़, लैंप, ड्रेसिंग-टेबल, कुर्सियां, सोफ़े, अपने में सीमित और संपूर्ण कमरे के आगे छोटी सी बालकनी भी, जिस पर टहलते हुए मैं सिगरेट पिता रहा। अपने अंदर एक जो चिड़चिड़ापन इकट्ठा हो गया था, उसी से छुटकारा पाने की कीशिश में। डिनर में चार पांच सौ उठ गए थे, फिर भी मुझे लग रहा था कि मीनाक्षी और शुभा के अतिरिक्त किसी को वह अच्छा नहीं लगा। शुभा और मीनाक्षी बातों में मगन थीं। अभय इला के अचानक मुरझा जाने पर काफ़ी परेशान को उठा था और उसे जल्दी से जल्दी खाना खतम करके जाने की लगी थी। मैंने सिगरेट फेंक दी। कमरे में आकर मैंने शुभा को जगा लिया।

सुबह तड़के ही दरवाज़े पर दस्तक होती है। इला है। मैं अचरज से उसे देखता हूँ।

"मैं अंदर आ जाऊं?" उसकी आवाज़ भारी है।

"तुम घर नहीं गईं?" मैंने पूछा।

"गांव तीन किलोमीटर पर है, रात में सवारी कहीं मिलती?" उसने कहा।

मैंने हटकर उसे अंदर आने दिया, "फिर रात... " मेरे मुंह से आधा वाक्य निकला और फिर मैंने ज़ुबान दांतों से दबा ली।
"रात कहाँ काटी? पूछिए न, रुक क्यों गए? कॉटेज के सामने लकड़ी के कॉउच पर...और कहाँ?" कहती हुई वह अंदर चली गई।
मै नहा-धोकर निकला तब तक उसने रसोई में चाय बना ली थी। उजाले में इला को देखता हूँ, उसका चेहरा फीका है, रंगहीन। उसकी साड़ी, बाल सलीके से बंधे हैं, लगता है जैसे अभी अभी क्लास पढ़ाने जा रही हो।
वह चाय बनाकर मुझे थमा देती है और अपना प्याला लेकर कमरे में चली जाती है, दरवाज़ा हल्के से बंद हो जाता है। मेरा काम ख़त्म हो गया है। आज ही वापिस जाना है। मैं आर्थर से क्या कहूँगा, उसे सोचने को कई दिन हैं।
"सॉरी सर," इंडियन एयर-लाइंस के रिजर्वेशन-काउंटर पर बैठी लड़की कहती है, "तीन चार दिन तक कोई भी सीट नहीं है, कहिए तो आपका नाम चांस में लिख लूं।"
"कौन सा नंबर?"
"अड़सठवां,"
इससे पहले कि मैं आगे कुछ पूछूँ, अधीर भीड़ का एक रेला आता है और मैं धक्का खाकर दूर पहुंच जाता हूँ। मैं सड़क पर खड़े-खड़े इधर-उधर देखता हूँ, पांत के पांत छायादार पेड़ सड़क के बराबर, गंगा जैसी चौड़ी गंभीर नदी, हल्की हल्की उष्ण धूप, स्त्रियों की साड़ियों के चटख़ रंग, और बालों में फूल, सब कुछ साफ़, सुन्दर होटल में पता चलता है कि स्टीमर भी सारे भरे हुए हैं, शायद वीडियो-बस में जगह मिल जाए। बंबई पहुंचने में अठारह घंटे लगेंगे। तो मैं यहीं अटक गया हूँ। यह बात कोई नहीं मानेगा, शुभा भी नहीं। मेरी जगह गिरिराज होते तो तुरंत इन दिनों के सदुपयोग में व्यस्त हो जाते, ज़फ़र होता तो...
कॉटेज खाली है। इला नहीं है, पर उसकी अटैची अभी भी कमरे में है। मुझे ग़ुस्सा आ रहा है अपने पर, इला, गिरिराज, ज़फ़र, शुभा, सभी पर, दुनिया पर इला को खूब अच्छी तरह मालूम होगा कि मैं चार दिन तक निकल नहीं पाऊंगा। उसे मेरा कार्यकम मालूम या। मै चार दिन एक जगह नहीं बैठा रह सकता। इस सबका मतलब क्या है? वे सब सच कहते थे। आधा शहर जो अपने को इला का प्रेमी बताता था, सच कहता था। चलो, निकलो, बस से ही सही। लंच खाता हूँ। थोड़ी देर स्वीमिंग-पूल के पास बैठता हूँ। काउंटर पर बस के टिकट की व्यवस्था को कह दिया है। फिर बिस्तर पर लेट जाता हूँ। फ़ोन बजता हैं। बस में भी जगह नहीं हैं। इला दिखेगी तो गला मरोड़ दूंगा।
पूरा दिन ऐसे ही निकल जाता है। पलंग पर पड़े-पड़े और जासूसी उपन्यास पढ़ते-पढ़ते। शाम को पाजामें-कुर्ते में ही मैं रेत पर निकल जाता हूँ। सब कुछ कल जैसा है। वही बच्चे, जिन पीती हुई वही औरत, वही लहरें, वही सूर्यास्त सूरज जब पानी में डूब जाता है तो एक धीमा स्वर पूछता है, "कुछ मांगा?"
मुड़कर देखता हूँ, इला है। न जाने कब से पास आकर खड़ी थी। वह मुझे ऐसे देख रही है जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस क्षण मेरा सारा तनाव, सारा ग़ुस्सा न जाने कहीं बह जाता है। इला है, वह पानी में डूब नहीं गई। वह मुझे छोड़कर कहीं चली नहीं गई।
"कहाँ थीं अब तक?" संयत स्वर में मैं पूछता हूँ।
"यहीं तो, सुबह पणजी गई थी, टिकट की पूछताछ करने। आपका चेहरा देखकर बोलने की हिम्मत

हुई, सिमटी हुई। मैं अगर उसे उंगली से हिला भी दूं तो वह एकदम राख के ढेर की तरह ढह जाएगी।

"और क्या लेंगी आप?" मैंने फिर पूछा। मैंने पाया कि मेरा स्वर बहुत कोमल और पुचकार भरा हो आया है। जैसे अंजू और संजू को चोट लगने के बाद मना रहा होऊं। उसने आँखे उठाई। वह साफ़, उजली दृष्टि थी, कृतज्ञ और हलकी पनीली। उसने क्या कहा था यह मैं नहीं सुना। उस समय न जाने क्यों अभय के भाग्य से ईर्ष्या सी हुई। मैंने कहा, "अमृत ने बहुत पी रखी है। इसलिए इससे कुछ भी पूछना बेकार है।" यह कहकर मैंने अभी अभी जो घट गया था, उस अप्रिय प्रकरण को नकार दिया। मैंने देखा कि इला ने बहुत कम खाया है, केवल चखकर ही छोड़ दिया। खाने के दौरान उसने मुझे बताया कि वह दिल्ली के एक नामी कॉलज में पढ़ाती रही है।

"राधव दा, अब मैं लौटकर फिर अपनी पुरानी पोज़ीशन में आ रहा हूँ," अभय ने उत्साह से बताया, "इला आगे पी.एच.डी. करना चाहती है। इसीलिए कब से आपसे मिलने को पीछे पड़ी थी।"

रात काफ़ी बीत चुकी थी। मैंने अपने को बेहद थका पाया। टैक्सी में बैठते हुए अमृत ने कहा, "उससे सावधान रहना। तुम फंसने वाले जीव नहीं हो, फिर भी दूर रहना ही ठीक है।" उस रात मैं बिस्तर पर आना टालता गया। इच्छा न होने पर भी रात गए रूम-सर्विस से बीयर मंगाकर पीने बैठ गया। शुभा तैयार होकर पलंग पर लेट गई थी। बोली, "लड़की में सिर्फ़ रंग ही रंग है, ऐसी सुन्दर तो नहीं कि सारा जमाना डुल जाए। अमृत क्या कह रहे थे?"

"तुम तो जानती ही हो, पीने के बाद ऊटपटांग बकने लगता है।"

शुभा ने कहा, "वह तो हमेशा से ऐसे ही थे। कॉलज में भी। पता नहीं तुम्हारी क्यों उसे इतनी घुटती है।"

"शुभा, हमारी शादी उसी ने करवाई थी," मैंने कहा।

शादी के नाम पर शुभा की जैसे कुछ याद आ गया, "तुम कब तक बैठे रहोगे? मैं कब तक जागती रहूँ?"

उसने पतले पारदर्शी बादलों की तरह झिलमिल कपड़े पहन रखे थे, तकिए पर उसका सिर टिका हुआ था, उसने गरदन मोड़कर जैसे मुझे देखा, उसमें स्पष्ट ही आमंत्रण था। मैं बिना कुछ कहे अपनी बीबी को ताकता रहा। वह एक अच्छी बीबी थी, इसमें शक की गुंजाइश नहीं थी। भल-बुरे में मेरा साथ निबाहती आ रही थी और मैं भी भरसक उसे खुशी देने की ही कीशिश करता रहा था। शादी के ग्यारह महीने बाद ही जुड़वां लड़कियों के होने से वह बहुत व्यस्त और परेशान हो गई थी और उनके पालने में उसका काफ़ी समय चला जाता था। फिर भी मुझे कभी अकेला नहीं लगा; किसी और की ज़रूरत महसूस नहीं हुई। शुभा अब भी मुझे देख रही थी। मैंने गिलास आधा छोड़ दिया और कपड़े बदलने गुसलख़ाने में चला गया। जब मैं बाहर आया तो वह गाढ़ी नीद में सी गई थी। मेरी प्रौढ़ और ढलती हुई बीबी, मैं उसके प्रति ढेर से स्नेह और अनाम कृतज्ञता से भर गया। कमरे में रात का सन्माटा भर उठा था। होटलों के कमरे एक ही जैसे होते हैं, पलंग, सिरहाने, मेज़, लैंप, ड्रेसिंग-टेबल, कुर्सियां, सोफ़े, अपने में सीमित और संपूर्ण कमरे के आगे छोटी सी बालकनी भी, जिस पर टहलते हुए मैं सिगरेट पिता रहा। अपने अंदर एक जो चिड़चिड़ापन इकट्ठा हो गया था, उसी से छुटकारा पाने की कीशिश में। डिनर में चार पांच सौ उठ गए थे, फिर भी मुझे लग रहा था कि मीनाक्षी और शुभा के अतिरिक्त किसी को वह अच्छा नहीं लगा। शुभा और मीनाक्षी बातों में मगन थीं। अभय इला के अचानक मुरझा जाने पर काफ़ी परेशान को उठा था और उसे जल्दी से

जल्दी खाना खतम करके जाने की लगी थी। मैंने सिगरेट फेंक दी। कमरे में आकर मैंने शुभा को जगा लिया।

सुबह तड़के ही दरवाज़े पर दस्तक होती है। इला है। मैं अचरज से उसे देखता हूँ।

"मैं अंदर आ जाऊं?" उसकी आवाज़ भारी है।

"तुम घर नहीं गई?" मैंने पूछा।

"गांव तीन किलीमीटर पर है, रात में सवारी कहीं मिलती?" उसने कहा।

मैंने हटकर उसे अंदर आने दिया, "फिर रात... " मेरे मुंह से आधा वाक्य निकला और फिर मैंने ज़ुबान दांतों से दबा ली।

"रात कहाँ काटी? पूछिए न, रुक क्यों गए? कॉटेज के सामने लकड़ी के कॉउच पर...और कहाँ?" कहती हुई वह अंदर चली गई।

मै नहा-धोकर निकला तब तक उसने रसोई में चाय बना ली थी। उजाले में इला को देखता हूँ, उसका चेहरा फीका है, रंगहीन। उसकी साड़ी, बाल सलीके से बंधे हैं, लगता है जैसे अभी अभी क्लास पढ़ाने जा रही हो।

वह चाय बनाकर मुझे थमा देती है और अपना प्याला लेकर कमरे में चली जाती है, दरवाज़ा हलके से बंद हो जाता है। मेरा काम ख़त्म हो गया है। आज ही वापिस जाना है। मैं आर्थर से क्या कहूँगा, उसे सोचने को कई दिन हैं।

"सॉरी सर," इंडियन एयर-लाइंस के रिजर्वेशन-काउंटर पर बैठी लड़की कहती है, "तीन चार दिन तक कोई भी सीट नहीं है, कहिए तो आपका नाम चांस में लिख लूं।"

"कौन सा नंबर?"

"अढ़सठवां,"

इससे पहले कि मैं आगे कुछ पूछूँ, अधीर भीड़ का एक रेला आता है और मैं धक्का खाकर दूर पहुंच जाता हूँ। मैं सड़क पर खड़े-खड़े इधर-उधर देखता हूँ, पांत के पांत छायादार पेड़ सड़क के बराबर, गंगा जैसी चौड़ी गंभीर नदी, हलकी हल्की उष्ण धूप, स्त्रियों की साड़ियों के चटख़ रंग, और बालों में फूल, सब कुछ साफ़, सुन्दर होटल में पता चलता है कि स्टीमर भी सारे भरे हुए हैं, शायद वीडियो-बस में जगह मिल जाए।

बंबई पहुंचने में अठारह घंटे लगेंगे। तो मैं यहीं अटक गया हूँ। यह बात कोई नहीं मानेगा, शुभा भी नहीं। मेरी जगह गिरिराज होते तो तुरंत इन दिनों के सदुपयोग में व्यस्त हो जाते, ज़फ़र होता तो...

कॉटेज खाली है। इला नहीं है, पर उसकी अटैची अभी भी कमरे में है। मुझे ग़ुस्सा आ रहा है अपने पर, इला, गिरिराज, ज़फ़र, शुभा, सभी पर, दुनिया पर इला को खूब अच्छी तरह मालूम होगा कि मैं चार दिन तक निकल नहीं पाऊंगा। उसे मेरा कार्यकम मालूम या। मै चार दिन एक जगह नहीं बैठा रह सकता। इस सबका मतलब क्या है? वे सब सच कहते थे। आधा शहर जो अपने की इला का प्रेमी बताता था, सच कहता था। चलो, निकलो, बस से ही सही। लंच खाता हूँ। थोड़ी देर स्वीमिंग-पूल के पास बैठता हूँ। काउंटर पर बस के टिकट की व्यवस्था को कह दिया है। फिर बिस्तर पर लेट जाता हूँ। फ़ोन बजता हैं। बस में भी जगह नहीं हैं। इला दिखेगी तो गला मरोड़ दूंगा।

पूरा दिन ऐसे ही निकल जाता है। पलंग पर पड़े-पड़े और जासूसी उपन्यास पढ़ते-पढ़ते। शाम को पाजामें-कुर्ते में ही मैं रेत पर निकल जाता हूँ। सब कुछ कल जैसा है। वही बच्चे, जिन पीती हुई वही औरत, वही लहरें, वही सूर्यास्त सूरज जब पानी में डूब जाता है तो एक धीमा स्वर पूछता है,

"कुछ मांगा?"
मुड़कर देखता हूँ, इला है। न जाने कब से पास आकर खड़ी थी। वह मुझे ऐसे देख रही है जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस क्षण मेरा सारा तनाव, सारा ग़ुस्सा न जाने कहीं बह जाता है। इला है, वह पानी में डूब नहीं गई है। वह मुझे छोड़कर कहीं चली नहीं गई है।
"कहाँ थीं अब तक?" संयत स्वर में मैं पूछता हूँ।
"यहीं तो, सुबह पणजी गई थी, टिकट की पूछताछ करने। आपका चेहरा देखकर बोलने की हिम्मत नहीं हुईं। फिर सारे दिन यहीं बैठी रही।" उसने फूस के छप्पर से ढकी झोंपडी की तरफ़ इशारा किया।
"सारे दिन?"
"तो और क्या? कितना डरती हूँ मैं आपसे?"
"डरती ही तो यह सब नाटक क्यों करती हो?" वह चुपचाप, निरुत्तर मेरे साथ चलती रही। कॉटेज के सामने आकर हम कुर्सियों पर बैठ गए।
"मैं एक बात कहूँ...एकदम सच-सच। आपके लिए मेरे मन में इतना आदर, इतना स्नेह है कि आप कभी जान नहीं सकेंगे। पहले मैं आपको अमृत भाई की तरह ही बदमाश समझती थी, पर अभय की मौत के बाद आपने जो सहारा दिया, और बिना कुछ मुझसे लिए हुए, उससे मेरा... "
"मैं बदमाश?"
टैक्सी रुक गई। उतरते हुए इला कहती है, "मैं यहीं रहती हूँ। "छोटा सा कच्चा रास्ता है। ऊबड़-खाबड़ एकदम आख़िरी छोर पर छोटे से टीले पर उगी हुई पीली दीवारों और खपरैल की छत की कॉटेज, सामने बरामदा जिसमें झूला पड़ा है। वहीं बैठने से नीचे, काफ़ी नीचे समुद्र दिखाई देता है। उजला और शांत।
"हरे नारियल में जिन पिएंगे?" इला ने पूछा।
"नहीं, सिर्फ़ डाभ, सिर सुबह से घूम रहा है। "
"आप आराम से बैठिए," कहकर उसने मुझे स्ट्रा डालकर नारियल पकड़ा दिया। पास बैठती हुई बोली, "आपसे एक बात कहनी थी। मौका ढूंढ़ रही थी। मगर...आपके यहां आने से पहले ही मैं विभाग को इस्तीफा भेज चुकी हूँ। अब तक पहुँच गया होगा।"
"ऐसा कैसे?" मैंने कहा, "फिर मुझे यहाँ बुलाया क्यों?"
उसका जवाब न देकर इला ने अपने बालों में उंगलियां फंसाते हुए कहा, पढ़ाते-पढ़ाते मेरा जी भर गया है। मैं कुछ नया करना चाहती हूँ। अपनी ज़िंदगी एक नए सिरे से शुरू करना चाहती हूँ। अतीत की एकदम धोकर, नई स्लेट की तरह। अब तक इधर-उधर भटकती रही। बिना चप्पू की नाव की तरह। अब स्थिर बैठूँगी। इतने लंबे एकांत और एकाकी रहकर मैंने खूब आत्मविश्लेषण किया है। अब मैं जान गई हूँ कि मैं क्या और किसे पाना चाहती हूँ।"
"किसे? "
"जिससे हर सूर्यास्त मांगती हूँ," यह बात हंसी में उड़ाने की कोशिश करती दृष्टि बच गई। फिर गंभीर होती हुई बोली, "मैं इधर एक उपन्यास लिख रहीं हूँ। कुछ कुछ आत्मकथात्मक, पचास पृष्ठ लिखकर मैंने 'राइटर्स-वर्कशॉप' में भेजे थे। उधर से अच्छी प्रतिक्रिया आई है। वही जाकर पूरा करने की बात चल रही है। अगर वह नहीं भी हुआ तो गरमी में रानीखेत में जाकर रहूंगी। पश्चिम में नहीं छपेगा तो क्या, यहीं छपेगा। पैसा मिले तो भी ठीक, न मिले तो भी ठीक," इला का यह नया

रूप है। गंभीर, आत्मविश्वासी, मैं चुप रहता हूँ। एकाएक मेरी आँखों के आगे फुलझड़ियाँ सी छुटने लगती हैं।
"इला, मुझे चक्कर आ रहा है।" खड़े होते होते मैं लड़खड़ा जाता हूँ। अंदर ले जाते हुए इला की बांह जो मुझे सहारा दे रही है, कोमल भी है, दृढ़ भी। उसका युवा स्पर्श जैसे मेरे चेतना खोते शरीर में घुलमिल रहा है। पलंग एकदम कड़ा है, तख़्त जैसा। इला मेरा चेहरा हल्के-हल्के ठंडे कपड़े से पोंछ रही है। मेरे अंदर से मुझे झकझोरते हुए एक लंबी सांस निकल आती है।
"इला, मुझे माफ़ कर दो," मैं बुदबुदाता हूँ। मेरे चारों तरफ़ एक नींद भरा अंधेरा है, एक सन्नाटा, जिसमें मुझे अपने दिल की धड़कन बहुत तेज़ सुनाई दे रही है।
मैं कई घंटे सोया होऊंगा, जब जगता हूँ, तब तक धूप ढल गई है। बरामदे में तेरह-चौदह साल की नौकरनुमा लड़की बैठे है।
"बाई, उधर बीच पर गई हैं।" वह कहती है।
मैं बरामदे में खड़ा होकर अपने को आज़माता हूँ। सोने से निश्चय ही ख़ुमार उतर गया है। मैं एकदम स्वस्थ महसूस करता हूँ, जैसे किसी अंधेरी खोह से निकल आया हूँ।
चाय पीते-पीते मैं अनमना-सा नीचे देखता हूँ। इस समय रेत पर काफ़ी लोग जुटे हुए हैं। मैं पुरानी आदत के अनुसार सारी बातें तरतीबवार रखकर देख रहा हूँ। इला ने इस्तीफ़ा दिया है, वह उपन्यास लिखेगी, स्थिर होकर बैठेगी। और मैं? क्या करूंगा? आर्थर से कहकर उसका इस्तीफ़ा रुकवा सकता हूँ, जब तक उपन्यास प्रकाशित न हो जाए, तब तक के लिए। इला को हमेशा के लिए खो देने के विचार से यह बूढ़ा सीना इतना विचलित क्यों हो रहा है?
तभी इला आती दिखाई देती है। शायद समुद्र स्नान से लौटी है। उसने महीन-सा गाउन शरीर पर डाल रखा है, जिसके अंदर से उसकी बुदकीदार बिकनी झलक रही है। वह निसंकोच आकर बैठ जाती है और ख़ाली प्याले पाले में चाय छानती हुई पूछती है, "अब जैसी तबीयत है?"
"अब ठीक है।"
"खाना पीना भी तो ठीक से नहीं हो रहा है," कहकर वह पीछे झुकती है तो गाउन का दायां पल्ला पीछे ढलक जाता है और न चाहते हुए भी मेरी दृष्टि उसकी जांघ तक अनावृत हो आई टांग पर अटक जाती हैं। गाउन से अपना पूरा पैर ढकते हुए वह सरल भाव से कहती है, "बचपन में दीवाली पर बुरी तरह जल गई थी, सलवार ने आग पकड़ ली थी। उसी का यह निशान है, जला, झुलसा हुआ। साड़ी पहनने से ढका रहता है। आप इतने ताज्जुब से मुझे क्यों देख रहे हैं... " वह उठ खडी होती है, "मैं कपड़े बदलकर अभी आती हूँ। "
मैं भी उठ खडा होता हूँ। मुझे किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं बची। वह जैसी भी है, है। और मैंने उसकी चाहना की है, शायद उस पहले दिन से ही।
इला मुझे विस्मय से देख रही है। फिर उसका चेहरा एकदम बदल जाता है। उसमें प्रतीक्षा भी है, आवाहन भी। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि अगर मैं एक कदम भी आगे बढ़ा तो फिर पीछे नहीं जा सकूंगा। मेरे आगे पीछे सभी कुछ एक अँधेरे में डूबने लगा। शुभा, अंजू, संजू, घरजमाई, नाती, नातिन, दोस्त, समाज, नाम, इज़्ज़त, डीनशिप, प्रॉविडेंट-फंड, पेंशन - सब कुछ एक सर्वग्रासी बाढ़ में डूबा जा रहा है। छब्बीस साल का विवाहित जीवन एक मिट्टी के ढूह की तरह गिर गया है।
डूबते हुए सूरज का आलोक हमारे चारों तरफ़ भर उठा है। आगे क्या है, मैं नहीं जानता। इला मुझे

खींचकर चांटा मार सकती है। मुंह फेर सकती है। मेरा उपहास कर सकती है। या फिर मेरे बढ़ते हुए हाथ को सहारा दे सकती है। निर्णय अब उसका ही है। सूरज पानी में एकदम डुबकी लगा गया। इला और मैं एक-दूसरे की और मुड़े, हमारी आखें मिलीं। मैंने कुछ कहने के लिए मुंह खोला, पर इला ने मेरे होठों पर उंगली रख दी, "बाद में बताना," उसने कहा।

आखेट

शैल अग्रवाल
प्रतिष्ठित एवं पुरस्कृत लेखिका, उनकी उपस्थिति सातवें दशक से निरन्तर बनी हुई है।

नदी वह चंचला थी और पूरे उफ़ान पर भी, परन्तु दाहिनी तरफ पसरा पड़ा जंगल पूर्णतः सुनसान और शान्त था। उस कलकल निनाद और पूर्ण सन्नाटे के विरोधाभास ने वातावरण में एक रोंगटे खड़े करने वाला रोमांच भर दिया था। बीच-बीच में हमें चिड़ियों के पंखों की फड़फड़ाहट और झींगुर आदि का शोर भी सुनाई दे जाता था, विशेषतः तब जब हमारे जूते सूखी चरमराती पत्तियों पर अधिक ही शोर करने लग जाते थे।

अब वह दृश्य पूर्णतः मोह रहा था हमें।

भोर की किरन जब-जब फूलों का घूंघट उठाती तो वीराना रूप से और भी दपदप करने लग जाता था, मानो जमीन पर नहीं, किसी परीलोक में विचर रहे हों हम; एक स्वप्न सा ही तो था सब कुछ वहाँ पर!

चलते-चलते कई ऐसी जगहें भी दिखीं, जहाँ जमीन को भरी दोपहरी में भी रौशनी का एक कतरा तक नहीं छू पाता था। ऐसा घुप्प अंधेरा, मानो हम अचानक ही किसी ठंडे और सूखे कुएँ में पहुँच गए हों। जगह-जगह उंचे-ऊंचे पेड़ों ने छतरी-सी तान रखी थी। कैसे भी टोहते-टटोलते ही तो वहाँ से बाहर निकल पाए थे हम, उन बेलों के जंगली जाल को इधर-उधर हाथ फेंक-फेंककर अंदाज़ से ही हटाते-बढ़ाते हुए। एकाध कांटा भी चुभा था हमें। फिर भी उत्साह बना रहा था हमारे सैलानी हाथ-पैरों में।

नौकरी का पहला दिन था वह मेरा।...कहते हैं न कि नया मुल्ला प्याज़ ज़्यादा खाता है। फिर जगह से भी तो वाकिफ़ होना ही था मुझे। इलाके के इन्सान ही नहीं, जानवरों तक की रखवाली की ज़िम्मेदारी अब हमारी और हमारी टीम की ही तो थी।

जीप आधी मील दूर, जंगल के उस पार ही छोड़ दी गई थी और पैदल-पैदल ही नदी तक पहुँचे थे हम। अब हमारी विस्मित आँखों के आगे नदी पहाड़ और पेड़-प्रकृति की छटा का मनभावन त्रिकोणी संगम फैला हुआ था। और तब सामने बहती उस नदी के संग-संग जंगल घूमने का मन बना यारों का, और जितना व जब तक संभव हुआ घूमे भी थे उस दिन हम। नदी के बहते पानी में अपनी परछाइयाँ ढूँढते और चुनते, तो कभी ऐसे ही किसी जंगली फूल को सूंघते-सहलाते, पक्षियों को निहारते घंटों निकाल दिए थे हमने। नदी भी तो अठखेलियाँ कर रही थी हमारे साथ। हिलती लहरें तरह-तरह की आकृतियाँ बनातीं और बिगाड़ भी देतीं तुरंत ही। कई बार तो उन ऊंचे देवदार और चिनार के पेड़ों को भी अपने चेहरों के संग-संग पानी में बहते और लहरों के संग टेढ़े-मेढ़े होते देखकर एक रोचक मुस्कान तैर गई थी हमारे होठों पर भी।

मन में एक रोमांच-सा जगाती, सुनसान और सभ्यता से कितनी दूर थी पर वह जगह। देवभूमि कहे जाने वाले इस हिमालय के जंगलों का रहस्य जान पाना वैसे भी इतना सहज तो नहीं। फिर वह दिन ही कैसे अपवाद होता! नहीं जानते थे हम कि रुद्र कब अपने रुद्र-तम रूप को लेकर प्रकट हो जाएँगे? मौसम का सही अनुमान आसान नहीं होता इन जगहों पर। परन्तु उस वक्त तो सब कुछ शिव और सुंदर ही दिख और प्रतीत हो रहा था। एक से बढ़कर एक दृश्य थे, बादल पानी और जमीन तीनों के उस अप्रतिम मेल और खेल में। सारे बादल मानो एकसाथ नदी में उतर आए थे और लहरों पर बहते हमारे संग-संग ही चल रहे थे। और उस खिली-खिली धूप में बहादुर, हमारा गाइड,

सदा ही हमसे चार कदम आगे-आगे। उसके थमे और धीमे शब्द धीरे-धीरे मुंह से निकलते और धीमे शब्द धीरे-धीरे मुंह से निकलते और फिर जंगल के उस एकांत में हवा संग बह-से जाते। संगीत से गूंजते और गोल-गोल घूमने लग जाते उसकी बीड़ी के धुँए के छल्लों पर बेफिक्री से सवार हो-होकर। पर वह खुद इतना बेफिक्र नहीं दिख रहा था उस शांत वातावरण में भी। बेहद सतर्क और चौकन्नी थीं उसकी गोल-गोल चमकती आँखें। उसकी हर बात मानते, हम भी बहुत ध्यान से सुन और देख रहे थे उसे।

अब बहादुर अलकनंदा कैसे गंगा में पलटी, का वर्णन सुना रहा था और वर्णन था भी बेहद रोचक। जलमग्न काले चिकने वे गोल पत्थर, जिन्हें वह स्वयंभू शालिग्राम कहकर बार बार हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा था, वाकई रहस्यमय थे और नदी के सौंदर्य को दुगना कर रहे थे। झाग फेंकती लहरें भी उन्हें ऐसे छू-छूकर निकल जाती थीं, मानो साक्षात रुद्राभिषेक की पूजा चल रही हो वहाँ पर।

हम कभी वर्णित एक-एक दृश्य का आनंद लेते तो कभी तस्वीरें खींचने लग जाते। जो न खींच पाते उन्हें यादों के एलबम में संजोने लग जाते। कभी-कभी तो बस यूँ ही उस अलसाई दोपहरी में किसी पटिया, किसी शिला पर बैठकर सुस्ताने भी लग जाते थे परन्तु ऐसा तभी होता जब हम बहुत थक चुके होते थे। कई बार तो थकान के मारे चलते-चलते ही झपकी तक आ जाती थी और तब कुछ देर आराम करना बेहद जरूरी हो जाता था सभी के लिए।

नाश्ता भरपेट खाया था सुबह चलने से पहले, तो खाने-पीने का सारा सामान गाड़ी में ही छुड़वा दिया था बहादुर ने। उसका कहना था कि इन जगहों पर जितने हलके और सतर्क रहो, उतना ही बेहतर है - कौन जाने खतरा कब किस दिशा से धावा बोल दे। उसकी तो बस एक ही रट थी, 'शाब जी, आज ही देख लो, जितना देख सको। रोज-रोज आना नहीं हो पाएगा यहाँ पर और रात को रुकना भी ठीक नहीं इन सुनसान जगहों पर।'

'क्यों?' सवाल पूछने की हिम्मत नहीं थी किसी की भी - कुछ ऐसे विशेष अंदाज़ में और ज़ोर देकर सावधान करता चल रहा था बहादुर हमें। कंजी आँखों वाले उस पहाड़ी के चेहरे पर कुछ ऐसी गंभीरता और बेचैनी थी कि बिना किसी सवाल-जवाब के हम उसकी हर बात मान रहे थे और उसका हर वाक्य ब्रह्म-वाक्य ही था मेरे लिए तो कम-से-कम। वह जंगल के बारे में सब कुछ जानता था और मैं कुछ भी नहीं। वह वहीं का रहने वाला था और मैं कल ही इलाहाबाद से पहली बार इस क्षेत्र में आया था।

अचानक ही बहादुर पलटा और बोला- 'जल्दी ही रात हो जाएगी। अंधेरा पहाड़ों पर अचानक और एक संग ही कब्जा करता है। अब हमें लौट चलना चाहिए।'

'इतनी जल्दी? अभी कुछ विशेष तो देखा ही नहीं हमने पर!'

विचार मन में आया अवश्य परन्तु चुपचाप ही मुड़ लिए हम तीनों उसके कहने पर और नदी के उद्गम तक जाने की अपनी इच्छा और ज़िद सब छोड़ दी हमने; वापस जीप की ओर लौट रहे थे हम अब। पर वापस जीप तक पहुँच पायें, उसके पहले वह कम-से-कम ढाई तीन मील का लम्बा जंगल का रास्ता तय करना शेष था अभी, वह भी अंधेरा ढलने और शाम होने से पहले।

चलते-चलते दस-पंद्रह मिनट ही हुए होंगे कि यकायक बदली सी छा गई और अगले पल ही घुप अंधेरा भी हो गया। ऐसा अंधेरा जिसमें हाथ को हाथ तक नहीं सूझता। फिर भी हम देखने और देख पाने की कोशिश करते रहे।

बिना टौर्च जलाए ही आगे बढ़ते गए। बहादुर ने भी समझाया - यही ज़्यादा सही है। अब हमारी

रफ़्तार खुद-ब-खुद ही तेज़ होने लगी थी। करीब-करीब दौड़ने से लगे थे हम। हम तीनों ही डरे और चुप थे - एक बेचैनी भरी डराती चुप्पी थी वह।
पर किससे और क्यों डर रहे थे हम - हममें से कोई नहीं जानता था!
एकाध चिड़िया के अलावा अब कुछ दिखाई या सुनाई नहीं दे रहा था और शायद कुछ और था भी नहीं वहाँ। फिर भी एक अज्ञात आशंका असहज करने लगी थी हमें और कुछ-कुछ अंदाज़ा भी था कि कैसे-कैसे ख़ूंखार जानवर रात में शिकार पर निकलते हैं इन सुनसान जंगलों में।
...हमारी चुप्पी शायद उसने सुन ली थी।
'यह जंगल है, शाबजी। यहाँ चीजें दिखने से पहले महसूस होने लग जाती हैं। ऐसे ही आता है अंधेरा इन घने जंगलों में, अचानक ही, एक शिकारी की तरह, चौकस और पूरी तैयारी के साथ अपना पूरा जाल फैलाता हुआ।' अचानक ही निकले बहादुर के इस वाक्य ने हमारी बेचैनी कुछ और बढ़ा दी - कैसा शिकार और किसका शिकार!
अब बहादुर नीचे-ऊपर ही नहीं, चारों तरफ़ ही अपनी पैनी नज़र रख रहा था और उसके मुंह से हिस-हिस की आवाज़ के साथ निकले हर 'स' की जगह 'श' की ध्वनि का भी मैं अभ्यस्त हो चला था। हाँ, बीच-बीच में आई इसकी वह सांस की लम्बी और अटकी सुड़क ज़रूर हमारे बढ़ते पैरों को रोक देती थी और तब हम सब उस अंधेरे में भी सतर्क होकर इधर-उधर देखने लग जाते थे।
अब सिवाय हमारे पैरों की उस खिसर-खिसर और सूखे पत्तों की चर्र-मर्र के कुछ और कहने सुनने की मानो न तो ज़रूरत ही रह गई थी और ना तो समय ही। एक आतंक-सा फैल चुका था उसकी बातों का हमारे इर्द-गिर्द।
धीरे-धीरे वह पहाड़ी थकने लगा था और थोड़ी देर पहले ही बहुत अच्छे लगते उसके वे ऊलजलूल किस्सों का ख़ज़ाना भी। अब उनकी जगह उसकी खोजी आँखों में एक चीते जैसी चौकस चमक आ गई थी और कांख में धंसी खुरपी को सहलाने भी लगा था वह रह-रहकर, जैसे कि एक जानवर शिकार से पहले अपनी बेचैनी में छलांग लगाने से पहले ऊँचाई पर खड़े होकर नाखूनों से ज़मीन को खरोचने लग जाते हैं बार-बार और बेमतलब ही।
उसके बिना कुछ कहे-सुने ही हम समझ गए थे कि सावधानी और गति दोनों ही ज़रूरी हो चली थीं अब हमारे लिए। किसी भी पल ख़तरनाक हो सकता था वह शांत दिखता, टिप-टिप करता और यदा-कदा की धीमी आवाजों से गूंजता-महकता जंगल। रात में यूँ टहलने के लिए तो हरगिज़ ही सुरक्षित जगह नहीं थी। भय मानो अब एक चीते सा ही पीछा कर रहा था हमारा। चीता का तो नाम ही डरा देता है - कैसे आ सकता है चीता यहाँ पर, यह जगह तो इंसानों की बस्ती से बेहद नज़दीक है! बुद्धि ने तुरंत दलीलें देनी शुरू कर दी थीं। अभी मैं खुद को तटस्थ कर ही रहा था कि अचानक बहादुर पलटा और बोला, 'चीते का शिकार किया है कभी आपने बाबूजी?'
चौंककर मैंने भी पलटकर उससे पूछा, 'चीता और यहाँ पर, क्यों डराते हो बेवजह ही बहादुर हमें!'
टौर्च से उसके चेहरे पर रौशनी मारते हुए मैंने आधी डरी और आधी कौतुक भरी नज़र से एक बार फिर उसका सिर से पैर तक निरीक्षण किया और पूरी बात की सच्चाई व गहराई भरपूर जाननी चाही, परन्तु उसकी आँखें तो अब उन सरसर करते पेड़ों के बीच फिर से जाने क्या-क्या और कुछ और ही ढूंढ़ने लगी थीं, 'हाँ बाबूजी, यहाँ चमोली और बागेश्वरी के बीच अक्सर ही दिख जाता है चीता...खास करके ऐसी खामोश और ठंडी रात में। फिर अगर भूखा हो तो...'
'भूखा हो तो क्या...?' मैं करीब-करीब फुसफुसी-सी आवाज़ में भी चीखता-सा बोला था तब।

हमारी घिग्घी बंधी जा रही थी। मेरी तेज़ आवाज सुनकर उसने तुरंत ही मुंह पर उंगली रखकर मुझे खामोश कर दिया। अर्दली कामथ जो अभी तक पीछे-पीछे भरी हुई राइफल लेकर चुपचाप चल रहा था, अब सतर्कता के साथ आगे बढ़कर बहादुर के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने लगा था।

बहादुर के चेहरे पर अब वही पहली वाली रहस्यमय मुस्कान वापस आ चुकी थी और उसकी बातें हमारी रीढ़ में सुरसुरी पैदा कर रही थीं।

'कुछ नहीं। बस अपने पेट भरने लायक इन्तज़ाम तो कर ही लेते हैं ये जानवर भी, शाब जी।'

बात वह हमसे कर रहा था परन्तु उसकी आँखें अभी भी घुमावदार सड़कों से हट कर पहाड़ों पर छाए अंधेरे पेड़ों के झुरमुटों पर ही टंगी हुई थीं।

पर वहाँ ऐसा कुछ भी तो नहीं दिख रहा था जिससे डरा जाए, पांव फिर भी अब कांपने लगे थे हमारे और बेवजह ही एक दौड़-सी में थे हम सभी। कैसे भी, जल्द-से-जल्द जीप तक पहुंचना ही था अब तो हमें। कुछ दिख नहीं रहा था और ना ही ऐसी कोई संभावना ही समझ में आ रही थी फिर भी डर के उस अहसास ने हमारे टेंटुए भींच दिए थे। अंधेरा मानो अब एक खूंखार जानवर में पलट चुका था और पल में ही हमें पूरी तरह से पछाड़ने की तैयारी में हमारे पीछे-पीछे दौड़ रहा था। सामने पहाड़ी के ऊपर बने इक्के-दुक्के घरों की रौशनी की धीमी लकीर बीच-बीच में थोड़ी बहुत राहत और राह अवश्य दिखा देती थी, पास ही इन्सानों की बस्ती होने का अहसास भी दे देती थी। बस, इससे ज़्यादा और कोई मदद नहीं थी हमारे पास उस वक़्त। न करे भगवान कुछ उलटा-सीधा हो, किसी मदद की उम्मीद व्यर्थ ही थी उन दूर पहाड़ी की चोटी पर बसे घरों से। हम सभी मन-ही-मन प्रार्थना में थे अब।

'बस्ती के इतने पास तो नहीं ही आता होगा चीता?' अपनी तसल्ली के लिए फिर भी एक निरर्थक-सा सवाल पूछ ही लिया था मैंने।

'क्यों नहीं? भूख बड़ी जालिम चीज है शाब जी, सब करवा देती है। और फिर वह पहाड़ी के ऊपर वाली बस्ती इतनी पास भी कहाँ है!' वह अभी भी धीमी और फुसफुसी आवाज़ में ही बोले जा रहा था और मुंह पर उंगली भी रख रखी थी अब तो उसने, मानो हमें फालतू की बातें न करने को कहना चाहता हो।

हमारी भयभीत चेतना अब पूर्णतः सुन्न हो चुकी थी और तुरंत सुरक्षा चाहती थी। हड़बड़ी में सामने पड़े पत्थर से पैर टकराया तो गिरते-गिरते ही बचा मैं।

'संभाल कर बाबूजी। मैं हूं न इस सबसे निपटने को। आप तो बस अपने को संभाले रहो। ज्यादातर तो जैसे आता है वैसे ही चला भी जाता है अगर भूखा न हो तो, या फिर आदमखोर न हो तो।'

बहादुर के मुख से बार-बार निकला यह 'भूखा' शब्द हमारी भूख भी जगा रहा था और भय भी। यदि हम भूखे हैं तो चीता भी तो भूखा हो ही सकता है...सकता क्या, निश्चय ही होगा ही।

अब आप सोच रहे होंगे - ये हम कौन? तो जनाब मैं यानी विपिन नागपाल इस एरिया में आया नया-नया फ़ौरेस्ट-औफिसर और मेरा अर्दली कामथ और गाइड व फ़ौरेस्ट-रेंजर तेज जंग बहादुर।

इस एरिया से वाकिफ़ नहीं हूँ मैं और इस जंगल में भी पहला दिन ही है मेरा और इस नौकरी का भी। सच कहूँ तो इस असहनीय भय का भी। अपने इलाहाबाद में तो मैंने सघन वन के नाम पर बस आम और अमरूद के बगीचे ही देखे हैं। ऐसे बीहड़ में विचरना और डरना...थोड़ा-बहुत तो आप भी अंदाज़ लगा ही सकते हो मेरी इस अजीबो-गरीब मनःस्थिति का।

अभी मैं खुद को संभाल ही रहा था कि अचानक ही बिजली की तेज़ी से लपकता वह जाने कहाँ से आया और ठीक हमारे सामने आकर खड़ा हो गया।
हरी घूरती आँखों पर जब टौर्च की रौशनी पड़ी तो दुगनी तेजी से कौंधी थी उसकी बिल्लौरी आँखें। भूख की ज्वाला थी बस वहाँ पर, भय नहीं और हम तीनों जड़ हो चुके थे अब तक भय से। पूरा मुंह खोलकर दहाड़ा भी वह तब - ऐसी दहाड़ जिसने मेरी तो पैंट ही गीली कर दी।
अचानक कई चिड़िया फड़फड़ाकर चीत्कार-सा करतीं उड़ गईं आसपास के पेड़ों पर से।
अभी-अभी जो सोया-सोया-सा लग रहा था, मानो वह पूरा जंगल ही जग चुका था अब उसकी एक ही गर्जना से।
अभी उस किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था में पल भी नहीं बीता होगा कि सामने कि झाड़ी में हलचल हुई और एक खरगोश तेज़ी से फुदका। इसी को तलाशता ही शायद वह यहाँ हम तक आ पहुँचा था। पर तभी बजाय उसकी तरफ लपकने के वह तेज़ी से हमारी ओर झपटा। हमारी आदम-गंध उस तक पहुंच चुकी थी शायद। पर इसके पहले कि हममे से किसी को एक खरोंच तक लगे, अर्दली कामथ की बंदूक चल पड़ी। और निशाना भी सही जगह पर ही लगा था।
अब वह चीता तन से और मैं मन से पूर्णतः आहत था - 'क्या यह ज़रूरी था?'
दो ही गोलियों में चीता सामने ज़मीन पर पड़ा तड़प रहा था। उठने की कोशिश की तो तीसरी गोली ने पूरी तरह से शांत कर दिया उसके अधमरे शरीर को। ज़्यादा बड़ा नहीं था, बच्चा ही-सा दिख रहा था। खून में लथपथ ज़मीन पर पड़ा वह।
‘ढूंढ़ती शेरनी कभी भी आ सकती है।’ अचानक बहादुर चीते की ही फ़ुर्ती से पलटा और चीते-सा ही दहाड़ा।
हमारे सामने पक्षियों का झुंड चीत्कार करता अभी भी उड़ रहा था। बहादुर की आंखें अब हर दिशा से सतर्क थीं। फिर तो एक दो तीन-तीन और गोलियों और अन्य पेड़ों से भी उड़ते और चीत्कार करते पक्षियों की आवाजें सुनी मैंने।
बहादुर ने तुरंत ही गजब की फुर्ती दिखाई और अपनी खुकरी के साथ शिकार को संभालने लग गया था, माँ कबसे काली पूजा के लिए सिंह छाल का बिछावन चाह रही थीं। आज देवी मां ने उनकी यह इच्छा भी पूरी कर ही दी।’
बिजली की सी तेज़ी से कमर की रस्सी खोलकर चारो पैरों से बांधकर चीते को कंधे पर टांग लिया था उसने अब। पर जाने क्यों, उसकी आवाज़ की वह कांपती खुशी मुझे छू नहीं पा रही थी।
मैं वाक़ई में उदास हो चला था - नहीं जानता था कि हम में से कौन अधिक हिसक और खूंखार है - हम इन्सान या फिर जंगली जानवर! चीता, जो अभी बच्चा ही था, पूरा बड़ा होने का मौका तक नहीं दिया हमने तो इसे। सब कुछ बेहद असहज हो चला था और असह्य भी मेरे लिए अब।
शायद पहले कभी देखा जो नहीं था इस बहादुरी से चीते का सामना होते, शिकार होते, फिर यूँ ढोकर आलू के बोरे की तरह कंधे पर उसे जाते हुए, वह भी पैदल-पैदल ही। रात के घुप अंधेरे में, घने जंगल के बीच से। सच में असहज हो चला था मैं।
'हम इनसान और जानवरों में से कौन अधिक हिंसक है? कौन प्रायः किसका शिकार करता है!' ये सवाल अब चीते से भी विकराल रूप लेकर मेरे सामने खड़े थे। चीता तो भूख में आखेट पर निकला था और हम?...न सोच रुक रही थी और ना ही खुद को निर्दोष साबित करती दलीलें ही।
मैं तो एक हरे भरे सुहाने जंगल की महक और सपना लेकर आया था इस नौकरी में। जंगल के इस

खूंखार और अंधेरे पक्ष की तो जानकारी ही नहीं थी मुझे। हो सकता है वह हमारी तरफ़ देखता ही नहीं। खरगोश या हिरन से ही काम चल जाता उसका...आदत कैसे पड़ेगी पर मुझे इस सबकी? जितना सोचता उतना ही उलझन में पड़ता जा रहा था। बहादुर मुझे धकेलता-सा रास्ते भर चीखता रहा, 'रुकें नहीं। रुकने का समय नहीं। चलते रहो शाबजी। खतरा अभी टला नहीं है।'

आगे-आगे राइफ़ल के संग चलता सतर्क कामथ मुड़-मुड़कर इधर-उधर और आगे पीछे देख लेता था कि सब ठीक तो है। जैसे-तैसे जीप में बैठे ही थे कि बहादुर फिर से चालू हो गया, 'यह तो जंगल है शाबजी। यहाँ जो ज्यादा ताकतवर हो, वही दूसरे का शिकार कर लेता है। जो चूका, गया काम से। सामनेवाला तुरंत ही चीरकर धर देता है, गिरे पड़े को। मरो, या मारो - यही कानून है जंगल का और यहाँ के जीवन का भी।'

बात तो सही थी पर मान नहीं पा रहा था मन। वन और जीव संरक्षण का संकल्प लेकर आया था मैं यहाँ पर और आज नौकरी के पहले दिन ही यह सब...आधी सुनी और अनसुनी वे बातें और एक खून बहता मरा चीता साथ में ...मुड़कर देखा तो कार में सीट बेल्ट लगाए बैठा वह चीता मानो मुझे ही घूर रहा था, और उसका खुला मुख भी कुछ इस अंदाज में टेढ़ा था मानो हंस रहा हो हमारे ऊपर -' कायर कहीं के! मुझे मारना कौन-सा कठिन काम था। रोज़ ही होते रहते हैं ऐसे नृशंस आखेट अबोध और कमज़ोरों के। देखना यह है कि तुम कब अपने से अधिक ताकतवर से टकराते हो!'

मन वाकई में खिन्न था। मोहभंग हो चुका था मेरा। शिकार या हिंसा के तो वैसे भी कभी पक्ष में नहीं रहा मैं। पैर खुद ही एक्सिलेटर पर और अधिक दबाव देने लग गए और खड़-खड़ करती जीप भी सर्पीले पहाड़ी रास्ते पर दुगनी रफ्तार से तेज़ दौड़ने लगी, मानो अब हमें ही नहीं, इसे भी शिविर तक पहुँचने की एक बेसब्र जल्दी थी।

वातायन
vatayan

पैरासाइट्स

नजमा उस्मान
पूर्व परीक्षक (रसायन शास्त्र एवं अंग्रेज़ी), लन्दन विश्वविद्यालय, लेखिका, अनुवादक
एप्सम-कैंट, ब्रिटेन

आज का दिन निर्णय का दिन है, हमारे जीवन का सबसे बड़ा निर्णय - बगिया के उत्तर में खड़ी वह सोच रही थी। साल में पहली बार चन्द्रैन (पियोनिया के फूल) खिले हैं; गुलाब के पत्तों के जैसे लाल फूल डालियों के सिरों पर झूम रहे हैं, उनके वज़न से पौधे एक ओर झुक गए हैं। इस तरफ़ की बाड़ कुछ ऊंची है और पड़ोसी के सेब के पेड़ की शाखाएँ इन पौधों को छाया देती हैं। छोटी चटाई पर घुटनों के बल बैठी वह सोच रही है कि यदि पियोनिया बाग़ के दूसरी ओर होता और इसे सेब की छाया न मिली होती तो धूप ने इन नाज़ुक फूलों को कब का झुलसा दिया होता - फलने-फूलने के लिए पेड़-पौधों को भी उपयुक्त परिवेश चाहिए - बिलकुल हम इंसानों की तरह।

फूलों के इर्द-गिर्द से वह नन्हें-नन्हें पीले फूलों से भरे वीड्स निकाल रही थी, जो बहुतायत में उग आए थे। वह सोच रही थी कि इनके पराग का छिड़काव इस तेज़ी से होता है कि देखते ही देखते ये हर तरफ़ फैल जाते हैं। आप इन्हें निकाल-निकाल कर फेंकते रहिए और कुछ ही दिनों में ये फिर हाज़िर हो जाते हैं। जिन वस्तुओं को हम प्यार और मनुहार से पालते हैं, वे इतनी जल्दी नष्ट हो जाती हैं, बेकार और कष्टप्रदायक चीज़ें - जैसे कि ये जंगली पौधे - झट उठ खड़े हो उठते हैं और पहले से कहीं बड़ी तादाद में। जब भी इन वीड्स को देखती है, वह यही सब सोचती है। कितना अच्छा हो कि केवल वही फल-फूल उगें जो हमने पसंद हैं, जिनके बीज हमने बोए हैं और जिनकी हम परवरिश करते हैं। क्षितिज में सूरज ढल रहा था और गरमी सहने लायक थी, बल्कि उसे कुछ कुछ ठंड सी लगने लगी थी।

घास-फूस को काले बैग में ढूँस कर उसने अपने दस्ताने उतार दिए और एक बार फिर प्योनीज़ पर एक प्यार भरी नज़र डाली - जंगली घास के निकल जाने के बाद, उन्हें सांस लेने को जगह मिली थी, वे बड़े स्वाभिमान और विश्वास से सिर उठाए खुली हवा में सांस ले रहे थे; खूबसूरत लग रहे थे। हाँ, उसे इन्हीं शब्दों की तो तलाश थी - सांस लेने की जगह! शायद अब इन फूलों का दम नहीं घुट रहा होगा। पर उन सब चीज़ों का क्या जो उसका दम घोटे दे रही हैं? अपने जीवन से वह जंगली घास-फूस को कैसे और क्योंकर उखाड़ फेंके? जब भी उसने इस दम-घोटूं वातावरण से छुटकारा पाने कोशिश की है, अपने को और भी दबा हुआ महसूस किया है; अपने ही हाथों को ज़ख़्मी किया है; अपने ही दिल को छलनी किया है। सम्बन्ध बद से बदतर हुए हैं और भावनाएं कमज़ोर। वह अब ऊब चुकी है, जीवन ने उसके साथ बड़ी बेसलूकी की है। उसका आत्म-सम्मान टूट चुका है, अब वह बस डूबने के कगार पर है। बहुत हो चुका, इस ढोंग को वह अब और नहीं रच सकती।

'अपने माँ-बाप के सामने दिल हल्का न करना, वे बूढ़े और कमज़ोर हैं; टूट जाएंगे, वे ये बदनामी नहीं सह पाएंगे। अपना रंजो-ग़म बच्चों पर ज़ाहिर नहीं होने देना; वे अशांत हो जाएंगे, कहीं उनका भविष्य न ही न बर्बाद हो जाए।'

निर्णय निर्णय निर्णय! कभी कभी निर्णय लेना आत्महत्या करना है।

निर्णय भी अजीब चीज़ है, कुछ निर्णय तो ज़िंदगी को पूरी तरह से पटक कर रख देते है। उसके लिए एक अदद शौहर चुनने का निर्णय, जिसके साथ उसे अपना पूरा जीवन गुज़ारना है, इतनी

जल्दी में ले लिया जाता है। फ़राह के बी.एस.सी के इम्तिहान भी पूरे नहीं हुए है पर उसकी माँ को इतनी जल्दी है उसे घर से विदा करने की। उसके अब्बू को तो इस बारे में सोचना चाहिए था, वो तो पढ़े-लिखे है, एक सफल कारोबारी हैं। सच्चाई तो यह है कि उसके होने वाले शौहर की कमियां और कमज़ोरियाँ उसके ब्रिटिश पासपोर्ट के पीछे छिप गयी हैं; एक मुनासिब शौहर का इम्तिहान वह बड़ी आसान से पास कर लेता है। काश कि उसके अब्बू विज्ञान का फलसफा समझ सकते।

तत्वों के वर्गीकरण का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है - दो मुख़्तलिफ़ तत्वों को एक साथ रख देने से वे एक दूसरे के लिए ज़हर बन जाते हैं। साफ़ और ठंडी हवा में उसने एक गहरी सांस ली; बाग़ कितना स्थिर और शांत था, फूलों से भरा बाग़ कितना खूबसूरत दिखाई दे रहा था! खुरपी और दस्ताने संभाले वह रसोई में आ गयी। आज शायद बारिश हो - यही तो है लन्दन का मौसम; कभी मार्च के मध्य में बसंत आ टपकता है तो कभी मई और के अंत तक बरसात बंद नहीं होती। चार बजने को थे, उसने चाय की केतली ऑन कर दी; साढ़े पांच बजे तक उसके शौहर काम से लौट आएँगे और आते ही टीवी का रिमोट हाथ में लिए वे सोफ़े पर ढेर हो जाएंगे और बदल बदल के चैनल्स देखेंगे। शुरू शुरू में तो उसे उनकी यह आदत दिलचस्प लगती थी - कभी कुश्ती देख रहे हैं तो कभी पॉप म्यूज़िक, कभी कोई ड्रामा तो अगले ही पल गॉल्फ़!

‘चैनल्स बदलने की बजाय, ठीक से क्यों नहीं कुछ देखते?' फ़राह शिकायत करती तो उसे वह पूरी तरह से अनदेखा कर देते। कितने अलग मिज़ाज़ के थे वे दोनों? एक तरफ़ जल्दबाज़ी में निर्णय लेकर पछताने वाले ग़ुस्सैल आमिर और दूसरी तरफ़, एक धीमे बहती हुई निर्मल नदी जैसी फ़राह, शांत और निर्मल। फ़राह को थिएटर पसंद है पर आमिर को अमेरिकन फ़िल्में, फ़राह को चाय के साथ मसालेदार नमकीन पसंद हैं तो आमिर की शाम व्हिस्की के एक गिलास से शुरू होती है। उसे माध्यम रौशनी में बैठना पसंद है पर आमिर सारे घर की ट्यूब लाइट्स जला कर बैठता है।

'मुझे कमरे में शेडेड लाइट्स पसंद नहीं,' आमिर तमक के कहता है। ऐसा नहीं कि फ़राह ने समझौता करने की बहुत कोशिश की। यहां तक कि वह चमकती रौशनी में बैठकर अमेरिकन फ़िल्मस भी देखने लगी पर व्हिस्की की गंध उसकी बर्दाश्त के बाहर थी। जब वह पीना शुरू करता, फ़राह उठकर बाहर चली जाती। एक दूसरे को समझने की कोशिश में उनके सम्बन्ध कुछ और पेचीदा हो गए थे। नकारात्मक भावनाएं और विपरीत नज़रिया साल दर साल बढ़ रहे थे, अब तो वे इतने फ़ासले पर थे कि चाहते भी तो नज़दीक नहीं आ सकते थे। वे अब एक ऐसे मुक़ाम पर थे, जहां यदि एक सकारात्मक सोच कभी सतह के ऊपर आ भी जाती तो ख़ुद ब ख़ुद डूब मरती। कैक्टस के साथ यदि एक वीपिंग-विलो को बो दिया जाए तो क्या वो कभी फल पाएगा?

जब बच्चे छोटे थे, बहुत से ऐसे मौक़े आते थे, जहां माँ और बाप दोनों का पारस्परिक सहयोग आवश्यक था; उन दोनों ने ख़ुशी-ख़ुशी और ईमानदारी से उन्हें अंजाम भी दिया - स्कूल में भर्ती, रिपोर्ट्स, पेरेंट्स-इवनिंग्स, ऊंची शिक्षा के लिए कालेज का चुनाव - ये कुछ ऐसे मौक़े थे जहां उन दोनों ने कुछ अच्छा समय एक साथ गुज़ारा पर उनका जीवन अधिकतर दो मुख़्तलिफ़ रास्तों पर ही चला। दोस्त सप्ताहांत पर ही मिलते हैं अथवा किसी पार्टी में। अपने घर की चार दीवारी के बीच, जहां किसी दिखावे की ज़रूरत नहीं, असली भावनाएं और नंगा सच कभी कभी अचानक सतह के ऊपर आ जाता है, जिसे नज़रअंदाज़ करना मुश्किल होता है। ऐसी अवस्था में, उनके दिमाग़ों में भी अलग हो जाने का प्रश्न सिर उठाता पर फिर बच्चों और बच्चों के भविष्य को देखते हुए, वे अपने क़दम रोक लेते। अल्लाह का शुक्र था कि बच्चों की शादियां न केवल फटाफट तय हुई, ख़ुशी ख़ुशी

निपट भी गईं। बेटी का विवाह एक डॉक्टर से हुआ और वह दुबई जा बसी, बेटा अपनी बीवी के साथ अमेरिका चला गया।

चाय बनाते वक्त वह यही सोच रही थी कि ये पहली गरमियां हैं कि जब बच्चे घर पर नहीं हैं। कौन जानता है कि कितने बरस उन दोनों को और साथ भोगने हैं, अकेले, बिलकुल तनहा! वह चाय लेकर बैठक में आ बैठी।

इन दिनों वह जल्दी से थक जाती है, शायद यह उम्र का तकाज़ा हो। कुछ सालों में आमिर भी रिटायर्ड हो जाएंगे। फ़ाराह हमेशा पार्ट-टाइम जॉब्स करती रही है पर लगातार थकान की वजह से अब उससे वह भी नहीं होती। शायद वह जीवन की नीरसता से बिलकुल ऊब चुकी है, कैसे गुज़ारेंगे वे इस तरह अपनी ज़िंदगी?

उन्हें यही निर्णय आज लेना है। पहले जब कभी यह प्रश्न उठा है, वे दोनों यही सोच कर मुल्तवी करते रहे हैं कि 'अभी नहीं'। अब जबकि बच्चे अपने अपने घरों में सुरक्षित हैं, माँ बाप चाहते हैं कि वो इस ढर्रे से निकलें, एक दूसरे से आज़ादी पाएं और खुश रहें।

वह उदास हो उठी; कितना अजीब लगता है न कि उन्होंने इतना लंबा समय एक दूसरे को नकारते हुए गुज़ार दिया। ठीक है, उन्होंने कुछ समझौते करने की कोशिश की पर वे काफ़ी नहीं थे। समय के साथ साथ उनमें कुछ बदलाव भी आए। चाय के साथ उसे आज भी मसालेदार नमकीन अच्छा लगता है पर अब उसका पेट इसकी इजाज़त नहीं देता, डॉक्टर्स ने आमिर को भी पीने से सावधान किया है, यदि उसने पीना नहीं छोड़ा तो उसके जिगर को और क्षति पहुंचेगी। बाहर से चीज़ें बदल गयी हैं किन्तु आंतरिक तौर पर कुछ नहीं बदला है। उसे हमेशा लगता है कि वह आमिर के लिए बेमेल है, शायद वह रेगिस्तान का फूल है, जिसे ऐसी जगह बो दिया गया है, जहां हमेशा बारिश होती रहती है, और इस अविरल बारिश ने उसकी जड़ों को सड़ा डाला है। जब कभी सूखा मौसम रुका तो पौधे ने जड़ पकड़नी शुरू की; उम्मीद के एक अंकुर ने सिर उठाया, पर तभी बारिश ने अचानक आकर उसे उजाड़ दिया। ऐसा न जाने कितनी मर्तबा हुआ, साल दर साल।

घड़ी ने साढ़े पांच बजाए और वे घर वापिस आए, थके और ऊबे हुए। उन्होंने रिमोट को हाथ में लिया और सोफ़े पर निढ़ाल हो धंस गए।

'सुनो, अगर तुम बात करना चाहते हो तो मैं चाय बना लूँ, तुम्हें पता है कि मुझे व्हिस्की की बदबू बिलकुल गवारा नहीं।' फ़ाराह ने पूछा। चेहरे पर ख़ालीपन लिए आमिर उसे देख रहा था।

'मुझे आज कोई ड्रिंक नहीं चाहिए, बहुत थकान लग रही है,' हमेशा की तरह, आमिर आज चैनल्स भी नहीं बदल रहा था। अपनी चाय लिए फ़ाराह कमरे में आ गयी; दोनों एक लंबे समय तक चुपचाप बैठे रहे।

'मेरा एक दोस्त अमेरिका से वापिस आया है, वह वहाँ हमारे बेटे से भी मिला था, कह रहा था कि वह वहाँ बहुत अच्छे से सेटल हो गया है, उसकी नई जॉब अच्छी है। वह हम दोनों को अमेरिका में रहने के लिए बुलाना चाहता है।' आखिर में आमिर ने ख़ामोशी तोड़ी, फिर उसने रुक कर और कुछ अटकते हुए पूछा, 'क्या तुम चलोगी वहाँ? तुम चलोगी न हमारे बेटे के पास?'

फ़ाराह खिड़की के बाहर तक रही थी। हनी-सकल बाढ़ पर छा गयी थी और उसकी नाज़ुक डालियों के सहारे ऊपर चढ़ रही थी, एक जंगली बेल भी। कितनी बार उसने इस जंगली बेल को खींच के अलग फेंका है पर वह जल्दी ही हनी-सकल को फिर फिर दबोच लेती है। वह सोचती है कि विज्ञान के हर सिद्धान्त के अपवाद हैं - शायद हनी-सकल और जंगली बेल दोनों पैरासाइट्स हैं - मुफ़्तख़ोर, जो एक दूसरे की दया पर जीवित हैं, शायद वे एक दूसरे के बिना नहीं जी सकते।

डोंगी

विवेक मिश्र
सुपरिचित और पुरस्कृत
कथाकार

नदी के उस पार लाल हो आया सूरज, उस भीषण तूफ़ान के बाद गंदला गए पानी में धीरे-धीरे उतरने लगा था।

इधर राजा घाट से कुछ कोस दूर, इस सुनसान किनारे पर, चार मछुआरे चप्पू और जाल का ताना बनाए, नदी में मिली एक लाश को उस पर लादे, गाँव की तरफ़ चले आ रहे थे। लगता था, वे मछुआरे नियति के जाल में फंसे, इस बुरे वक्त में, अपनी ही लाश उठाए चले आते हैं। जो मरा था, वो किसी का न था, या कहें कि उसका कोई न था जिसके लिए सुबह का इंतजार किया जाता। इसलिए गाँव पहुँचते ही, आनन-फानन में उसकी चिता लगी और नदी में डूबकर बुझ जाने से पहले, सूरज ख़ुद ही उसे सुलगा गया। करता भी क्यूँ न, रोज़ सुबह इस घाट पर उगते और नदी के उस पार डूबते इस सूरज, गाँव के इस घाट को छूकर न जाने कब से बहती आई इस नदी और इसके किनारे अब तक बचे रह गए पेड़ों को छूकर चलती हवाएं, यही सब तो इसके नातेदार थे। अगर मैं कहूँ कि मैं जो यह कथा आपसे कह रहा हूँ, उसे भी आप सूरज की रौशनी, नदी की एक लहर, या पत्तों पर रुकी नमी, इनमें से कुछ भी समझ सकते हैं, तो आप हँसेंगे और मुमकिन है कि आप मेरी बात पर विश्वास न करें, पर जिसका कोई नहीं होता उसकी कथा किसी न किसी को तो कहनी ही पड़ती है, पर किसी कथा को कहते हुए, यह बेहद जरूरी है कि सुनने या पढ़ने वाले को वह विश्वसनीय लगे, वह कथारची की बात पर भरोसा करे, इसलिए मैं बता देता हूँ कि यह जो मरा है, वह इस गाँव का एक बूढ़ा मछुआरा था। और मैं, उम्र में इससे कई साल छोटा पर इसी की राह पर चलता, अपनी एक टूटी डोंगी के सहारे, कुछ इसके जैसा ही जीवन जीता, एक मछुआरा ही हूँ। मेरी यादों में मेरा जितना पुराना रिश्ता इस नदी से है, उतना ही इस बूढ़े मछुआरे से भी है, बचपन में जब कोई पूछता, 'बड़े होकर क्या बनोगे' तो मैं कहता, 'बुद्धन काका जैसा मछुआरा।' एक जमाने में ये यहाँ के खिवैयों, मल्लाहों का उस्ताद था।

तो यूँ अगर सीधे-सीधे, केवल ऊपर-ऊपर से देखें तो यह कहानी मेरे सामने धीरे-धीरे ठंडी पड़ती चिता में जल चुके एक बूढ़े मछुआरे बुद्धन की है, पर अगर थोड़ा ठहर कर, इस नदी की तलहटी में एक बहुत धीरे-धीरे सांस लेते, दो सौ साल बूढ़े कछुए की आँख से देखें, तो यह कहानी सदियों से निरंतर बहती आ रही, एक नदी, उसके किनारों पर दूर तक फैली रेत और उसके आसपास बसी उन ज़िंदगियों की कहानी जान पड़ेगी, जो अपनी आंखों के सामने इस रेत और पानी के बीच के रिश्ते को दरकते, टूटते, बरबाद होते देख रहे हैं।

एस घाट के किनारे बसे गाँव की ऐसी ही तमाम ज़िंदगियों में से एक बुद्धन की थी, जिसने कई साल पहले एक महामारी में अपने बेटे-बहू को खो दिया था, और उसके बाद उसका सोलह साल का नाती, केशो ही उसकी पूरी दुनिया बन गया था। उसकी सारी उम्मीदें उसी से शुरू होतीं, और उसी पे ख़त्म। बुद्धन के दिल में दिन-रात केशो के लिए दुआएं ही रहती थीं। जिस दिन से बुद्धन के बेटा-बहू उसे छोड़कर गए थे, उसने अकेले ही केशो को बहुत जतन से पाला था, और इसके लिए वह इस उम्र में भी जी-तोड़ मेहनत करता आता था। समझो वह अपने नाती केशो के लिए कुछ भी कर सकता था। मुझे याद है, एक सुबह जब नदी के घाट पर दिन शुरू हो रहा था, तो डोंगी नदी में

उतारते हुए, बुद्धन के साथी मछुआरे ने उसे समझाते हुए कहा था कि अगर वो अपनी मन्नतों का एक लाल धागा, नदी किनारे ऊँचे पर लगे, पुराने पेड़ की डाल पर बांध देगा तो उसका नाती केशो, उसके बहू-बेटे की तरह कभी उसे छोड़कर, उससे दूर नहीं जाएगा। वह पेड़ जो सभी मछुआरों का पुरखा है, जिसके तने में हम सभी के पुरखों की आत्मा का एक अंश बसता है। वह हमेशा उसकी रक्षा करेगा, और उसकी राह में कभी कोई रुकावट नहीं आने देगा। अपने साथी की बात मान कर, एक दिन बुद्धन ने नदी किनारे लगे उस पेड़ पर केशो के लिए लाल धागा बाँधने का निश्चय किया, और इसलिए उस दिन अपनी डोंगी उसने नदी में नहीं उतारी, और सुबह-सवेरे जल्दी ही केशो को बिना कुछ कहे, वह घाट की ओर चल दिया।

यहाँ केशो, बुद्धन के नाती ने, जो अपने दादा को दिन-रात हाड़ तोड़ मेहनत करते देखता था और जानता था कि यह सब वह उसी के लिए कर रहा है, सोचा कि आज न जाने क्यूँ बाबा काम पर नहीं गए, शायद उनकी तबीयत अच्छी न हो, पर इससे तो उनके काम और कमाई का हर्ज़ा होगा, सो उस दिन उसने वह किया जिसके लिए बुद्धन उसे हमेशा रोका करता था, उस दिन उसने अकेले ही डोंगी नदी में ले जाने का निश्चय किया, और नदी की ओर चल दिया।

उस दिन घाट का माहौल और दिनों की तरह सामान्य ही था, मौसम में भी कोई विशेष हलचल दिखाई नहीं देती थी। इसलिए केशो ने जब अपनी डोंगी नदी में उतारी, तो वह मछली पकड़ने के लिए घाट से कुछ दूर निकल गया। घाट से दूर, नदी के बीचों-बीच जाल फैलाता केशो, और उस समय नदी में अपनी डोंगी पर सवार दूसरे मछुआरे इस बात से बिलकुल बेख़बर थे कि पिछली रात उस जगह से मीलों दूर हुई बारिश से, घाट से बीस मील दूर बने बांध में पानी का स्तर बहुत बढ़ गया था। और अभी कुछ ही समय पहले, बिना किसी चेतावनी के बांध के गेट अचानक खोल दिए गए थे। इसके बाद जैसे ही कुछ समय में बाँध से छोड़ा गया पानी तेज़ी के साथ घाट तक पहुँचा, उसने बाढ़ की शक्ल ले ली, नदी में इस अचानक आए उफान से घाट पर अफरा-तफ़री मच गई।

यहाँ केशो जो घाट और किनारे से दूर नदी में जाल फैला कर वापस खींच रहा था, और उस दिन अपने तब तक के काम से बहुत ख़ुश था, कुछ समझ ही नहीं पाया, जब अचानक एक बड़ी लहर आकर उसकी डोंगी से टकराई। जब तक वह अपना जाल वापस खींच पाता, अचानक आए पानी के उस बड़े रेले ने उसकी डोंगी को पलट दिया। केशो छिटक कर डोंगी से दूर जा गिरा। एक पल में उस बाढ़ में उसकी डोंगी, पतवार, जाल सब उससे छूट गए। उस तेज़ धार में भी हाथ-पाँव मारता केशो अपनी डोंगी बचाने की नाकाम कोशिश करता रहा, और तूफ़ान से लड़ने की इस कोशिश में नदी में उफनती लहरें जीतीं, या केशो, किसी को पता नहीं चला।

वहाँ बुद्धन केशो के लिए मन्नतों का लाल धागा अपने पुरखों के उस पेड़ की एक डाल पर बाँध कर, उसके सामने हाथ जोड़े खड़ा, केशो के लिए प्रार्थना कर रहा था, तभी उसने नदी किनारे मचे शोर को सुना, उसने देखा कि लोग बदहवास किनारे से दूर भागे जा रहे हैं। उसने जानने की कोशिश की कि आखिर हुआ क्या, पर किसी के पास किसी को कुछ बताने की फुर्सत न थी, और तभी मैंने, या मेरी उम्र के किसी लड़के ने, बुद्धन को केशो के बाढ़ में डोंगी समेत बह जाने की ख़बर दी थी, बताने वाले ने बताया था कि उसने केशो को अपनी डोंगी में घाट से दूर जाते देखा था। बुद्धन एक पल को यह सुनकर जड़ हो गया था, और अगले ही क्षण वह अपने होश खोकर वहीं, उस पेड़ के नीचे बैठ गया था।

उधर गाँव के माहिर गोताखोर मछुआरे बाढ़ में बह गए अपने साथियों को ढूँढ़ने के लिए नदी में

अपनी नावें उतार कर कूद पड़े थे, किसी को किसी की लाश मिली, किसी को किसी की डोंगी, तो कोई बेहोशी की हालत में अपने आप ही किसी किनारे आ लगा। पर केशो, केशो की देह, और उसकी डोंगी का कहीं कोई निशान तक न मिला। उधर बुद्धन ने उस खबर को सुनने के बाद कई घंटों तक आँख तक न खोली। अब उसे जानने वाले, उसके टोले के हर आदमी को इस बात की चिंता थी कि जब बुद्धन होश में आएगा, तो उनके ऊपर टूटे इस पहाड़ से दुःख के बाद, कोई उसे कैसे सांत्वना देगा, उनसे क्या कहेगा, उसे कैसे समझाएगा, कि केशो को, उसकी डोंगी को नदी ने लील लिया है। लेकिन किसी आश्चर्य की तरह जब बुद्धन ने आँख खोली, तो वह इस विश्वास के साथ उठा कि उसके केशो को कुछ नहीं हुआ, वह तो उस यात्रा पर निकला है, जहाँ वह अपनी डोंगी लेकर हमेशा से जाना चाहता था, वह तो पहले ही चला जाता पर वह ख़ुद ही उसे हमेशा रोक देता था। बुद्धन ने कहा, 'उसे पूरा विश्वास है कि अगर वह रोज़ उस पेड़ के आगे जहाँ उसने केशो की सलामती के लिए वो लाल धागा बांधा था, हाथ जोड़कर मनौती मांगेगा, प्रार्थना करेगा, तो रब जरूर उसकी बात सुनेगा और जल्दी ही एक दिन उसका केशो बिलकुल सही सलामत उसके पास लौट आएगा।'

इसके बाद तो नदी किनारे जाना, उस पेड़ के आगे प्रार्थना करना, हर समय इस उम्मीद से भरे रहना कि एक दिन केशो अपनी डोंगी में वापस लौट आएगा, और ऐसा सोचते हुए, कभी नदी के बहते पानी को ताकते रहना, कभी नदी और घाट पे चलती गतिविधियों के अंतहीन सिलसिले को अपनी सूनी निचाट आँखों से देखते रहना, जैसे बुद्धन का रोज़ का ही काम बन गया था। वह कभी ऐसे ही घाट के आसपास घूमता रहता, कभी किसी परिचित से बतियाने लगता, तो कभी किसी अजनबी को रोककर उसका हालचाल पूछता, उससे कहता, 'जैसे तुम कहीं से यहाँ आए हो, वैसे ही मेरा केशो भी अपनी डोंगी से कहीं गया है।' वह अक्सर अपनी बातों में केशो की हिम्मत की दाद देता। कहता, 'वह अपनी हिम्मत का बहुत पक्का है।' अगर कोई उसकी बात पर यकीन नहीं करता तो वह उससे कहता, 'वह ऐसे कई मछुआरों को जानता है, जो सालों बाद लौटे हैं, ऐसे चमत्कार और संजोग होते हैं। कभी-कभी तो लोग बचपन में यात्रा पर जाते हैं, और जब लौटते हैं तो वे पूरी तरह जवान हो चुके होते हैं। उनकी बड़ी-बड़ी दाढ़ी-मूँछें आ चुकी होती हैं। उनके घर-परिवार के लोग उन्हें पहचान भी नहीं पाते। ऐसे ही एक दिन केशो भी अपनी बड़ी हुई दाढ़ी-मूँछों के साथ लौटेगा।'

बुद्धन का समय रोज़ इसी तरह घाट पर बीतता, और वहाँ नदी में और उसके आसपास, दुनिया-जहान की गतिविधियाँ भी अपनी रफ़्तार से चलती रहतीं। नए समय में नदी को जोड़ने वाली योजना के बोर्ड, नए प्रस्तावित बाँध की परियोजना के बोर्ड, घाट के संरक्षण और नदी की सफाई के बोर्ड घाट पर लगते जाते, पर नदी पहले से ज्यादा दुर्बल, मलिन और प्रदूषित दिखाई देने लगती, अब धीरे-धीरे घाट के रास्ते और संकरे दिखाई देने लगते। समय बीतते रेत के अवैध खनन का काम धीरे-धीरे जंगल, टीले तक सीमित न रहकर गाँव, घाट, मंदिर और उसके किनारे लगे पुरखों के उस पुरातन पेड़ तक बढ़ आता। खनन माफिया के बुलडोज़र, जे.सी.बी. जो कभी चोरी छुपे रात में नदी में उतरा करते थे, वे अब सहज ही नदी किनारे खड़े, रेत निकालते दिखाई देने लगते। अब उनका नदी में उतरना, रेत निकालकर नाव पर डालना, नाव का किनारे तक आना, और फिर रेत का नदी किनारे खड़े ट्रकों में लदना, लोगों की नज़रों के लिए आम बात हो गई थी। और इस आम बात में, ख़ास बात थी वहां कि फ़िज़ा, वहां का माहौल, और वो ये कि इतना सब होने के बाद भी इस सबसे किसी को कोई फर्क न पड़ता था। क्योंकि वहां मौजूद हर आदमी या तो इस सबका

हिस्सा बन चुका था, या अब वह एक ऐसा तमाशाई था जिसने हर भले-बुरे को चुपचाप देखते रहने की आदत डाल ली थी।

बुद्धन जो इस बीच और कमज़ोर, पहले से और बहका हुआ, केशो को देखने, उससे मिलने के लिए ज्यादा आतुर, ज्यादा उतावला लगने लगा था, वह नदी के आसपास होते इन बदलावों का चश्मदीद तो था, पर केशो के इंतज़ार में डूबा हुआ, वह इसे नियति का खेल मानकर इससे बिलकुल बेखबर भी था। यूँ वह अब भी उसी तरह पेड़ के पास जाता, प्रार्थना करता, जो अब उस पुरखों के पेड़ से की जा रही एक मिन्नत में बदल चुकी थी। वह अभी भी घंटों उसी पेड़ के पास बैठा रहता, कभी-कभी थककर वहीं सो भी जाता। पर शायद ही कभी उसका ध्यान इस तरफ जाता हो कि रेत का खनन करते, रेत माफ़िया के आदमी, उनके बुलडोज़र, जे.सी.बी. और ट्रक उस पेड़ के चबूतरे, उसके टीले के चारों तरफ़ से लगभग सारी रेता उठा चुके हैं, और अब हिलोरें लेता नदी का पानी, हवा में खुल चुकी पेड़ की जड़ों से जितनी बार भी टकराता है, तो उतनी ही बार वहाँ से थोड़ी-सी मिट्टी वह अपने साथ ले जाता है।

एक रात जब बुद्धन घाट से घर लौट रहा था, तो आसमान में घिरे काले-घने बादलों को देख, न जाने क्यों बहुत बेचैन हो उठा था। उस रात बड़ी देर तक बादल गरजते रहे और भयंकर बिजली चमकती रही थी, इससे बुद्धन केशो की यात्रा के बारे में सोचकर बहुत परेशान हो उठा था। वह बेचैनी में रात भर करवटें बदलता रहा था। सुबह जब थोड़ी देर के लिए उसकी आँख लगी थी, तो उसने एक सपना देखा था, जिसमें उसे तूफ़ान में घिरा डोंगी में अकेला बैठा केशो दिखाई दिया था, जो मदद के लिए उसे पुकार रहा था। और वह लाचार-बेबस, घाट पर खड़ा उसे देखता रहा था। जैसे ही एक लहर केशो की डोंगी से टकराई थी, तभी बुद्धन ने ऐसा कुछ देखा था कि चौंककर खाट से उठ बैठा था।

आँख खुलते ही उसकी नज़र बाहर के मौसम पर पड़ी थी, बाहर अभी भी बहुत तेज़ बारिश हो रही थी। उसके बाद वह एक अजीब-सी बेचैनी से भरा, अपने बक्से में कुछ ढूँढ़ने लगा था, उसने बक्से से निकले कपड़े-काग़ज़ सब इधर-उधर फेंक दिए थे, तभी उसके एक कोने में, एक लाल धागे का गुच्छा दिखाई दिया था। उसने उसमें से पांच हाथ का धागा नापकर, दीवार पर केशो की लम्बाई के बराबर के लगे निशान से सटाकर उसे नापा था, यह वही निशान था जो कभी केशो के रहते उसने ख़ुद दीवार पर लगाया था। उस समय जब केशो को बड़े होकर अकेले यात्रा पर जाने की बहुत जल्दी थी, जब वह बार-बार पूछता था, 'बाबा मैं आपके जितना लम्बा कब होऊंगा।' उस दिन बुद्धन केशो की लम्बाई के बराबर का वह लाल धागा लेकर बारिश में भीगते, लगभग भागते हुए घाट की तरफ चल दिया था।

उधर पूरी रात हुई धुआंधार बारिश से नदी पूरे उफान पर थी। साथ ही एक बार फिर बांध में पानी बढ़ने से, उसके गेट भी खोल दिए गए थे। अबकी बार रेत के लगातार खनन से पूरी तरह कट चुके किनारे पानी को रोक नहीं पा रहे थे, नदी का तेज़ बहाव, नदी किनारे लगे पेड़ और उसके टीले के आसपास बची रह गई थोड़ी-बहुत मिट्टी को भी बहा के ले जाने लगा था।

ऐसे खतरनाक मौसम में जब भोर होते ही लोग घाट से दूर, अपनी डोंगियाँ सुरक्षित जगहों पर ले जा रहे थे। रेत उठवाते ठेकेदार के आदमी भी अपना सब सामान, अपनी खनन की मशीनें पीछे छोड़कर, नदी से दूर भाग गए थे। ऐसे में बुद्धन ऊंचे पर लगे अपने पुरखों के पेड़ की तरफ भागता चला गया था। लोग उसे आश्चर्य से देख रहे थे। कुछ उसे रोकने के लिए अपनी जगह खड़े चिल्ला

भी रहे थे, पर वह नहीं रुका था। वह वहाँ तक पहुँच गया था, जहाँ मछुआरों, मल्लाहों का रखवाला पेड़, उसकी मनौतियों, मुरादों का पेड़, उसके सामने था।

बुद्धन अपने हाथ में केशो की लम्बाई का लाल धागा लिए बड़ी हसरत से उस पेड़ को देख रहा था। वह हाथ बढ़ा कर उस तक पहुंचना चाहता था, तभी जड़ों से रेत के उठने, तले की ज़मीन कटने से बुद्धन के पुरखों का पुरातन पेड़, उसके केशो का रखवाला पेड़, ख़ुद किसी सहारे के लिए इधर-उधर डोलता, झुका जा रहा था। अभी बुद्धन के क़दम उसकी तरफ बढ़ ही रहे थे, कि एक बड़ी लहर से पेड़ के नीचे की बची रह गई मिट्टी भी धसक गई थी, और बुद्धन की आँखों के सामने सालों से आस, उम्मीद और मुरादों का पेड़, अपनी जड़ों से उखड़ गया था। वह पेड़ जिसने कितनी ही मनौतियों, मुरादों, मन्नतों, आस्थाओं और मान्यताओं का बोझ अपने कन्धों पर उठा रखा था, आज घाट से अपनी जड़ों से उखड़ते ही, नदी के तेज़ बहाव में यूँ बहा जाता था, मानो वह कभी वहाँ से जुड़ा ही न था।

अपनी ज़मीन से उखड़ कर पानी में बहे जाते पेड़ को देखकर हाथ में लाल धागा लिए पेड़ की ओर बढ़ रहा बुद्धन अचानक ही पानी में कूद पड़ा था। लोग उसे रोकने के लिए बहुत चीखे-चिल्लाए थे। आज पहली बार उन्होंने उसके सालों पुराने भरम को तोड़ते हुए बताया था कि उसका केशो मर चुका है, अब वो कभी वापस नहीं आएगा। पर बुद्धन, ने किसी की एक नहीं सुनी थी। उसकी आँखों के आगे उसका आज सुबह देखा हुआ सपना था, जिसमें तूफ़ान से घिरा, अपनी डोंगी में बैठा केशो उसे पुकारता रहा था। आज सालों से यात्रा पर निकला उसका केशो खतरे में था और उसका रखवाला पेड़ अपनी ज़मीन छोड़कर उखड़ चुका था।

पानी में कूदते ही बूढ़े मछुआरे के हाथ मानो चप्पू हो गए थे, आज भोर में देखे सपने में उसने अपने केशो की डोंगी को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया था, पर सपने में केशो की डोंगी उसकी आँखों के आगे पलट कर डूब गई थी। पर यह सपना नहीं था, यहाँ सपने से बाहर, इस तेज़ बहाव में बहे जाते उस पुरखों के पेड़ को बचाना ही केशो को बचाना था। अगर आज यह न बचा तो कल बहती धारा में एक छोटी डोंगी के सहारे रोटी कमाने कौन केशो उतरेगा। यही सब सोचते बुद्धन ने पेड़ की ओर तैरते हुए, उस विशाल पेड़ की एक डाल थाम ली थी, डाल के हाथ में आते ही वह चिल्लाया था, 'केशो नहीं, मैं तुझे ऐसे नहीं जाने दूंगा।' नदी का तेज़ बहाव और पेड़ का वजन बुद्धन को अपने साथ बहाता हुआ आगे ले गया था। लोग किनारे पर, ऊंची और सुरक्षित जगहों पर खड़े, बुद्धन को, उस उम्मीद के पेड़ के साथ बाढ़ में बहते, घाट से दूर जाते, और फिर धीरे-धीरे पानी में डूबते हुए, देख रहे थे। वे आश्चर्य में डूबे थे कि जब केशो बह गया था, तब बुद्धन इतने बड़े दुःख से उबर कर, उठ खड़ा हुआ था पर आज उस पेड़ के साथ बुद्धन क्यूँकर बहता चला गया, और पानी में डूब गया। क्यूँ बुद्धन जैसा कैसी भी उफनती नदी की बड़ी-बड़ी लहरों पर डोंगी उतारने में न घबराने वाला मछुआरा, आज हाथ में एक आस का धागा लिए, उस पेड़ के साथ बहता चला गया।

सबकी आँखों के आगे बुद्धन के नदी में बह जाने से जैसे अब घाट पर कोई आस, कोई मनौती न रही।

दो दिन बीतते-बीतते मौसम थोड़ा सुधरने लगा था, और नदी का पानी उतरता जान पड़ता था, नदी के आसपास की गतिविधियाँ भी धीरे-धीरे सामान्य होने लगी थीं। एक बार फिर जे।सी।बी। नदी की छाती में अपने डैने गड़ा कर वहाँ से कई मन रेता उठा रही थी। उधर फिर से बड़ी-बड़ी मशीनों से, नदी के बीच और किनारों से निकली रेता ट्रकों में पलटी जाने लगी थी, ट्रक आज फिर अपनी

लिमिट से ऊपर लोड हो रहे थे। आज एक ओवर लोडेड ट्रक मुड़ने के लिए बैक होता ही था कि पीछे लगे 'घाट व नदी संरक्षण और रेत के अवैध खनन की मनाही' के बोर्ड को एक टक्कर से गिरा गया था। वह बोर्ड अपनी जगह से उखड़ कर मिट्टी और बालू के कीचड़ में धंसता चला गया था, वैसे जब वह लगा था तब भी यहाँ किसी को उसकी जरूरत न थी।

आज फिर केशो जैसी कच्ची उम्र के एक मछुआरे ने हमेशा की तरह अपना दिन शुरू करने के लिए अपनी डोंगी पानी में धकेल ली थी, और वह उस पर सवार होकर घाट से दूर चला गया था।

इस नदी के किनारे, इस घाट, इस गाँव से बहुत दूर जहाँ चौड़ी-पक्की सड़कें बनी थीं, सुबह हो रही थी, वहीं सैकड़ों रेत से ओवर लोडेड ट्रक एक लाइन में एक लिंक रोड से हाइवे पर चढ़ रहे थे। उनके ऊपर बादल गरज रहे थे, बिजली कड़क रही थी, लगता था मानो किसी की चोरी पर आसमान में बैठा कोई चौकीदार उन ट्रकों पर अपनी टोर्च की रौशनी फेंकता हुआ चिल्लाता है।

यहाँ घाट पर एक बारह-तेरह साल का बच्चा अभी-अभी नदी में कूदा था। उसने नदी की गहराई में जाकर, तली में पड़ा एक सिक्का रोटी की तरह उठाया था, और ऊपर आते हुए उसे अपनी तकदीर की तरह मुस्कराते हुए देखा था। उसने वह सिक्का लाकर एक तीर्थ यात्री, एक पर्यटक को दे दिया था। उस यात्री ने उसके इस खेल पर मुस्कराते हुए उस बच्चे को एक दस का नोट दिया था। बच्चे ने उस नोट को घाट पर एक पत्थर से दबाकर रख दिया था, और फिर दूसरे पर्यटक द्वारा नदी में उछाले गए सिक्के को उठाने के लिए, किसी भी ख़तरे से बेख़बर नदी में कूद गया था।

वहाँ नदी से दूर, रेत से कुछ ट्रक एक कंस्ट्रक्शन साइट पर जाकर रुके थे। एक मजदूर ने ट्रक से उतरकर, उसकी ट्राली का एक पल्ला खोल दिया था। रेत भरभरा कर ट्रक से बाहर गिरकर, ज़मीन पर फ़ैल गई थी। उसकी क्वालिटी चेक करने के लिए ठेकेदार ने एक मुट्ठी रेत उठा ली थी। उस रेत के साथ एक पांच हाथ का, लाल धागा उसके हाथ में चला आया है। उसने उस धागे को अलग करते हुए, हाथ की रेत वापस ढेर पर फेंक दी थी।

वहाँ सूरज अब नदी के ठीक ऊपर आ पहुँचा था, और नदी के बीचों-बीच एक डोंगी पर बैठी दो आकृतियाँ एक छोटे-से मिट्टी के घड़े से किसी की अस्थियाँ नदी में छोड़ रही थीं। पानी की सतह पर बहती अस्थियां, और उसके साथ में बहाए गए फूल नदी की धारा के साथ बहते हुए, तूफ़ान में बह आई एक टूटी-फूटी डोंगी को छूने लगे थे। मुझे लग रहा था जैसे बुद्धन अपने केशो से मिल रहा है।

...एक टूटी, डोंगी, बिना किसी खिवैये के पानी पर दिशाहीन बहती चली जा रही थी।

विदेशी भैया

सन्तोष सुपेकर
सुप्रतिष्ठित लघुकथाकार

"ओ विदेशी भैया... जरा रुकना, आपसे एक बात करनी है,' कार्यक्रम हो जाने के बाद मुख्य अतिथि ने वहाँ से जा रहे फोटोग्राफर को संबोधित किया तो जाते हुए सब श्रोता चौंक कर उन्हें देखने लगे।

"विदेशी भैया?" संबोधन सुन फ़ोटोग्राफर एकदम भड़क गया, "ये क्या बोल रहे हो! सठिया गए हो क्या? ठीक से बात करो, मेरा नाम बी.एल... है समझे ! वो तो आप चीफ गेस्ट थे प्रोग्राम के इसलिए आपका लिहाज़ कर रहा हूँ वर्ना..."

"लिहाज़ के लिए ही कह रहा हूँ, भैया। आपको भी अपने देश का लिहाज़ करना चाहिए।"

"क्या मतलब?" फ़ोटोग्राफर का पारा अभी भी चढ़ा हुआ था।

"शांति रखो भैया, मेरी पूरी बात तो सुन लो। कार्यक्रम के दौरान आप लगातार फ़ोटो खींचते रहे, वह तो ठीक है, आपका काम है लेकिन कार्यक्रम के बाद जब राष्ट्रगान हुआ उस समय भी आप सावधान की मुद्रा में खड़े न रहकर सबके फ़ोटो खींचने में लगे रहे," जैसे जैसे वे बोलते जा रहे थे, फ़ोटोग्राफर की नज़रें झुकती जा रहीं थीं, "सामने बैठकर अपना कैमरा, मोबाइल चेक करते रहे तो मुझे लगा आप किसी दूसरे देश से हो, माफ़ करना, भैया, इस देश का बनना है तो राष्ट्र का सम्मान तो करना ही होगा। राष्ट्रगान के समय सब कुछ छोड़कर खड़ा रहना ही होगा वर्ना कल कोई और भी आपको कहेगा 'विदेशी भैया!"

इंजेक्शन

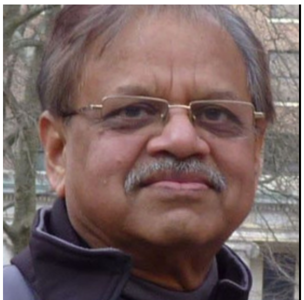

अरुण अर्णव खरे
लेखक, कवि, व्यंग्यकार, उपन्यासकार

रघु फिर साप्ताहिक हाट से निराश लौटा था; उसे जितनी उम्मीद थी, उससे बहुत कम दाम में सब्जियां बिकी थीं। हाट से लौटकर चुपचाप चारपाई पर लेट गया। फिर पत्नी से बोला, 'बड़ी मुश्किल से लागत निकल रही है। मेहनत का कोई मोल ही नहीं जैसे।'

'ननकू को तो बहुत फायदा हो रहा है, कल ही उसने शरबती को पायलें लाकर दी हैं', परबतिया ने उत्सुकता से रघु की ओर देखा।

ननकू शहर से कोई इंजेक्शन लाया है जिसे लगाने से सब्जियों का वजन ढाई-तीन गुना बढ़ जाता है, इसलिए उसे मुनाफा हो रहा है।'

'आप भी ननकू से पूछकर दवा ले आओ बाजार से... नहीं तो शहर जाके ठोकरें खानी पड़ेंगी', चिंतातुर परबतिया बोली।

पास बैठा पांच साल का बच्चा पंचम अचानक बोल पड़ा, 'बापू, माई सही बोल रही है, शहर से दो इंजेक्शन ले आना। एक सब्जी को लगाना और दूसरा मुझे, ताकि मैं जल्दी से बड़ा होकर आपका काम कर सकूं।'

बड़ी बहू हृदा इब्राहिम के लिए

अनामिका
प्राध्यापिका, दिल्ली विश्वविद्यालय

उसको मैं "दिल" कहती हूँ -
'डॉटर इन लॉ' का संक्षेपण है यह
जिससे 'लॉ' हम दोनों ने मिलकर झाड़ दिया है -
पुरानी दरी की तरह
दो-दो खूँटे पकड़े दोनों तरफ़ से,
नाक बांधी, बांधे फेटे और झाड़ दिया
पटक-पटककर धोने से पहले।
अब 'लॉ' खूँटे से बँधे लच्छे-सा
दूर पड़ा हमें घूरता है
वहीं से तो हँसती हैं
हम दोनों सास-बहू -
'लॉ' का क्या करना है हमको,
रिश्ते क़ानून से नहीं बनते,
बनते हैं दिल से ही रिश्ते।
दुनिया में 'लॉ' या क़ानून
बस खिलौना है -
एक तरह का वीडियोगेम,
सत्तानशीन खेलते हैं बड़े मनोयोग से
सरहदों पर
जंग-जंग खेलते हैं मिलकर
चोर-सिपाही-राजा-मंत्री।
हमसे कहते हैं कि
क़ानून हाथ में लिया तो उड़ा देंगे,
उड़ना-उड़ाना,
हाथ में लेना क़ानून,
उसे पाँव पर बिछाना
उनकी बपौती हो जैसे।
लेबनान मायका है मेरी बड़ी बहू का
जब वहाँ पहला विस्फोट हुआ,
अपनी बच्ची के लिए स्वेटर बुनते हुए
उसके फंदे फँसे और
घर गिर गये फिसलकर
बुनाई के काँटे के इधर-उधर।
फिर एक जादू हुआ।
दो औरतें आजू-बाजू खड़ी हो गयीं उसके
मेरे उठकर क़रीब आने के पहले -
एक तो पेनेलोपी 'ऑडिसियस' की
जो उसके इंतज़ार में मनौती बुनती
इसी तरह घबराती थी,
टालती थी अपने सब प्रेमियों को
वह यों ही बहाने बनाकर -
"पूरी बुन जाये समय की चादर
और नहीं लौटे ऑडिसियस चादर पूरी होने तक तो
प्रस्ताव मैं विचार लूँगी, फ़िलहाल
तो आप जायें ही।"
और फिर दिन में बुनी चादर चुपके से यों खोल देती थी
जैसे वह सचमुच समय की चदरिया
हो या कबीर की चादर
झीनी-झीनी जतन से बीनी - सदा की अधूरी, अनंत-
"गगन में गैब निसान उड़े"
दूसरी औरत जो उसके कंधे पर
हाथ धरे खड़ी हो गई,
'दो नगरों की कहानी' में चार्ल्स डिकेंस की सिरजी जासूस थी -
दिन-भर बैठी रहती थी वह सराय के मुँह पर
क्रांतिकारियों के लिए गुप्त रस्तों के नक़्शे
स्वेटर में ही बुन देती उनके लिए।
जिसे ब्याह लाया था मेरा बेटा सुदूर देश से,
उन पर साहित्य की महान बुनकरों
की जो परछाईं पड़ रही थी -
उसमें वह कितनी अलग लग रही थी -
नन्ही-सी बच्ची सरहदें लांघती हुई

कहाँ से कहाँ आ गई
बस ये ही सोचती हुई -
क्यों हैं दुनिया में इतनी सरहदें,
खाइयाँ इतनी, इतनी दीवारें?
हव्वा ने एक सेब क्या चख लिया,
उसको मज़ा चखा दिया ख़ुद ख़ुदा ने
अपनी सरहद के परे भेजकर?
पर ख़ुदा से क्या शिकायत?
शायद वो ये चाहता हो
कि औरत अब एक नई जन्नत बसाये इस धरती पर।
बड़ी बहू पहले तो बहुत देर सन्नाटा बुनती रही सर झुकाए,
फिर उसने आँसू पोंछे और बोली धीरे से
कि उजड़ जाने के पहले
लेबनान जन्नत ही था।
सिविल-वॉर के घटाटोप से घिरे
उसके अम्मा-बाबा एक लाइब्रेरी में सहसा मिले
धूँ-धूँ जला पुस्तकालय लहकती लपट में
पर अम्मा-बाबा किसी तरह बच ही गए
एक-दूसरे के दिलों में।
युद्ध के दौरान ही
एक ईसाई मित्र ने उनकी शादी कराई।
एक धुन बजायी बीथोवन की उसने
और दो आरोही सुर मिल गये
दूर नीलगगन में।
बहू के पिता एक कामरेड थे उन दिनों,
उनका मज़हब आदमीयत था।
युद्ध में जो खेत आये थे
नाम पर उन सब ईसाई दोस्तों के
उन्होंने ओलिव के पेड़ जो लगाये,
उनकी ही छाया में बीता था बचपन बहू का!
सो वह जहां भी गई,
चिलचिलाहट से भरी दुनिया में उसने छाया की।
जो इस दुनिया को जहन्नुम बनाने पर तुले हुए थे,
उन ठीकेदारों से उसने कहा -
“अंकल, बस!”
प्रॉपर्टी डीलर हैं वे तो जहन्नुम के,
वे उसकी काहे सुनेंगे?
पर सलाम उन सब नई माँओं को
जो आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए
बीज छिड़कती चलती हैं,
कोड़ती चलती हैं लगातार
बंजर से बंजर दिल
कि कभी तो फूटेंगे उनसे पानी के
कलकल-छलछल बहते सोते।

माँएँ होती हैं चींटियाँ

संजीव कौशल
दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर, कवि एवं अनुवादक।

चींटियों को देखकर
माँ की याद आती है मुझे
वो भी ऐसे ही उतार लेती थी
कढ़ाई में जमी रह गई सब्ज़ी की परत
रूखी रोटी से
सबको खिलाने के बाद
यही लिपटी हुई
बची रह जाती थी सब्ज़ी
सब्ज़ी का अहसास दिलाती हुई
और हमें यह झाँसा
कि वो रूखी नहीं खा रही
सब्ज़ी से खा रही है रोटी
माँएँ वास्तव में चींटियाँ होती हैं
लगातार चलती रहती हैं वे
इस कोने से उस कोने
कामों को जैसे सूँघती चलती हैं
और दबा कर अपने मज़बूत हाथों में
लिए चलती हैं उन्हें यहाँ से वहाँ
वे चींटियों की तरह ही होती हैं
ताक़तवर
तभी तो उठा लेती हैं
अपने से कई गुना बड़ा घर
अपने छोटे से सर पर

चींटियाँ होती हैं माँएँ
बचाकर रखने की अपनी आदत में
चीज़ें
मुश्किल वक़्त के लिए

चींटियाँ होती हैं वे
अपने शरीर में
कि हड्डियों के सिवाय
कुछ नहीं होता उनमें
चींटियाँ होती हैं माँएँ
कि ज़रा-सी आहट से मुश्किल की
फैल जाती है खलबली उनमें
और निकल पड़ती हैं वे
अंडे-बच्चों की हिफाज़त में
चींटियाँ होती हैं वे
लड़ते हुए अपनी रक्षा में
कि दाँतों को गहरा गाड़ देती हैं
कि मरकर भी नहीं छूटती उनकी
पकड़
घर के दुश्मन से
चींटियाँ होती हैं माँएँ
रास्ते में बतराते हुए
रुककर हालचाल पूछते हुए
दूसरी चींटियों से
ये ज़्यादातर लकीरों में चलती हैं
और भटककर
फिर से मिल जाती हैं उन्हीं लकीरों
में
कि माँएँ लकीरों में रहती हैं सारी
ज़िंदगी
अपनी हथेलियों की
चींटियों को मरते नहीं देखा है मैंने
और ना ही देख पाते हैं हम
माँओं को मरते हुए
दिन-रात खपते हुए
ईंधन-सी
घर भट्टी में
माँएँ होती हैं चींटियाँ
कि जाने अनजाने कुचल दी जाती हैं
बेख़बर पैरों से
चींटियों की तरह।

ओ मेरे देश!

डॉ. जितेन्द्र श्रीवास्तव
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अंतरराष्ट्रीय प्रभाग के निदेशक, लेखक और आलोचक।

यह बीतते वसंत की एक खिली हुई सुबह है
गाछों की नरम नई पत्तियों पर
उतर रही है धूप आहिस्ता-आहिस्ता
बीत चुके हैं दिन
पतझड़ के लगभग-लगभग
आप चाहें तो
कह सकते हैं इसे मदमय प्रात
पर खाली पड़ा है वह खेल का मैदान
जो भरा रहता है किशोरों और युवाओं के कलरव से
सुबह के इस वक्त
मलय समीर रोज़ सुस्ताता है यहां
उसके गुज़र जाने के बाद भी बची रहती है उसकी सुगंध
कुछ लोगों को दिखते हैं उसके पदचिह्न भी कभी-कभी
पर अचानक कहां चले गए सब !
किस ओर?
नहीं दिख रहे कहीं
सुबह में भ्रमण करने वाले
प्रौढ़ और बुजुर्ग
और आगे की यात्रा के लिए
फेफड़ों में दम भरती स्त्रियां
क्या पूरी तरह खाली हो गई है
अरावली की पहाड़ी पर बसी यह
पूरी की पूरी बस्ती एकाएक?
यह कैसा संकेत है नक्षत्रों के आंगन से!
क्या बताएगा कोई खगोलशास्त्री?
या लोग प्रतीक्षा करेंगे किसी नजूमी की?
ओह! एकाएक उठा है यह धूल का बवंडर पश्चिम से
यह भीषण ग्रीष्म के आने की आहट है या हुंकार कोई!
समय के भीतर अदृश्य है समय
सत्य होकर भी परछाइयाँ पूरा सत्य नहीं होतीं
असमय उठी है यह आंधी
तितर-बितर हो गई हैं चीजें
बचे हुए गुलमोहर के फूल झड़ गए हैं धरा पर
लग रहा है जैसे घासों ने ओढ़ ली है फूलों की ओढ़नी
पर क्या लिखा है
अभी-अभी आई हवा की पाती में
कोई खुशखबरी है या चेतावनी उसमें?
सुनो, ओ मेरे देश
उसे पढ़ो और सुनाओ!
सुनाओ, ओ मेरे प्राणों से प्रिय देश!
करोड़ों करोड़ हृदय व्यग्र हैं
तुम्हारी ओर अपना कान लगाए।

मैं प्रवास हूँ

आस्था देव

आस्था देव
हिंदी कवयित्री, लेखिका, प्रस्तोता, प्रोजेक्ट प्रबंधक ।

वर्तमान का श्रम हूँ मैं
मैं भविष्य का उद्यम हूँ
संघर्ष भरा इतिहास हूँ मैं
मैं प्रवास हूँ

मैं माँ की मीठी बोली हूँ
मूक हूँ ताली पापा की
भाई बहन की आस हूँ मैं
मैं प्रवास हूँ

कम पैसों का स्वाभिमान हूँ
ऊंचे स्वप्नों की उड़ान हूँ
लालटेन का मैं प्रकाश हूँ
मैं प्रवास हूँ

बड़ी कोठियों की तनहाई
तंग कमरों की सीलन हूँ
लघु उपलब्धियों का उल्लास
मैं प्रवास हूँ

अपने शहर की याद हूँ मैं
भीड़ में सबके बाद हूँ मैं
खुद में मैं खुद की तलाश हूँ
मैं प्रवास हूँ

मुकुट हूँ मैं ऋषि के सिर का
लुप्त हूँ जितना प्रकट हूँ उतना
मैं सभ्यता की उजास हूँ
मैं प्रवास हूँ।

पानी का स्वाद

नीलेश रघुवंशी
भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार, केदार सम्मान, युवा लेखन पुरस्कार आदि से सम्मानित लेखिका

प्लेटफार्म के छूटते ही धीरे-धीरे
छूटता है शहर
शहर से जुड़ी हर चीज़
एक चमचमाता खुलापन शुरू होता
है छूटते ही शहर के
हर प्लेटफार्म पर उतरना - प्लेटफार्म
न हो तब भी
क्या हुआ? रुक क्यों गई? पिट गई
क्या? जैसे अनगिनत सवालों की
झड़ी
हर प्लेटफार्म से बोगी में कितने लोग
आए, गए कितने
शहर को प्लेटफार्म की रौनक से
आँकते और अपने शहर की तारीफ़
करते न अघाते
लोगों को सोते देख करते कानाफ़ूसी
जिन्हें सोने नहीं मिलता घर में, सोते
हैं वे ट्रेन में
बिना प्यास के भी पानी पीते
प्लेटफार्म पर
पानी खारा था या मीठा, गटकते उसे
भीतर तक
कुछ प्लेटफार्म ऐसे भी मिलते, जहाँ
नल तो होता लेकिन पानी नहीं
बोगी में बैठे लोग बढ़ाते पानी
पानी जूठा भी होगा, हमारी सोच से
परे होती ये बात
कुछेक क्षणों की वह घोर आवारगी
धुआँ छोड़ते इंजन, प्लेटफार्म पर लगे
नल, पानी के स्वाद के बारे में बताया
जिन्होंने
ट्रेन की रफ्तार की तेज़ी से बदल रहा
है समय
एक बरस पहले का जीवन लगता है
गुज़रा ज़माना
एक जीवन में ज़माने कितने ? हर
ज़माने की गति अपनी, रहस्य अपने-
अपने
प्लेटफार्म पर खड़ी गाड़ी - खिड़की
से झाँकती बैठी हूँ सीट पर
क्या गृहस्थ जीवन में आते ही कट
जाता है आदमी आसपास से?
या उसका अपना नहीं, ये संसार?
खिड़की से बाहर फैले खेत
झिलमिला रहे हैं दीये की तरह
खेतों में लगी ये आग बनाएगी ज़मीन
को और - और उपजाऊ
जिएँगे इस जीवन को भी - कौन-सा
कितना खारा, मीठा कितना
रफ़्तार पकड़ ली है ट्रेन ने।

वीर-बहूटी

मनोज कुमार श्रीवास्तव
राज्य निर्वाचन आयुक्त-मध्यप्रदेश, वरिष्ठ लेखक

सुबह सुबह दिखीं ये। मेरा पाँव पड़ते पड़ते रह गया। वैसे इतनी सावधानी कहाँ रखी जाती है। पर वो तो कुछ ऐसा था कि जिस राह पर हम लोग चल रहे थे, उस राह पर बहुत से भुनगे थे जो सामने आ रहे थे। ध्यान से देखा तो पता लगा कि चींटे थे जिनके पर निकल आए थे। वे छोटे छोटे हेलीकॉप्टर यहाँ वहाँ सब तरफ थे। उनसे नीचा मुँह किये निकलो तो नीचे भी चींटे थे, जो ड्रोन बनकर उड़ने की तैयारी में थे।
ये वो ग्लाइडर कीट नहीं थे जो बड़ी दूर दूर तक चले जाते हैं। ये तो चींटों के अंतिम समय के या निषेचन समय के सूचक थे।
इनके कारण नीचे भी सावधानी से देखकर चलना पड़ रहा था। सो इनके द्वारा कराये गये पूर्वाभ्यास के कारण ये मख़मल-सी मसृण वीर बहूटी बच गईं पैरों के नीचे आने से। कैसी अंतर्निर्भरता है सृष्टि में। एक मरता है ताकि दूसरा बच सके। क्या इस बीरबहूटी को कभी ज्ञात होगा कि वह किसकी आसन्न मृत्यु से अभी अभी स्वयं की मौत की आसन्नता से सुरक्षित रह सकी है?
कैसा है यह विश्व जहां जब कोई परिदृश्य से अदृश्य हुआ जाता है तब ही दूसरे अधिक सुंदर, अधिक मृदुल का प्राकट्य होता है। सबके अपने अपने मौसम हैं। इन चींटी चींटों के लिए कैफी आज़मी के शब्दों में ‘ जान देने की रुत’ आ गयी है। और इस इन्द्रवधू के लिए वर्मा मलिक के शब्दों वाली ‘पिया मिलन की रुत आई’। या जीवों में जैसे मेटिंग का मौसम होता है, क्या वैसे ही मरने का मौसम भी होता है। जैसे ये मानसून की पहली बारिश है और ये चींटी चींटे मर रहे हैं।
मरते हुए भी इस बीरबहूटी के काम आए जिस पर मेरा पैर न लगा। और लोग ऐसे बलिदान के बावजूद भी नहीं बख्शते। कहते हैं कि मरते समय चींटी के भी पर निकल आते हैं यानी जो मुहावरा भी बना वह भी दंभ और अहंकार को लेकर बना है।
और क्या पता कि ये जिनके पंख निकल आएं हैं, वे मरने के लिए नहीं हैं, निषेचन के लिए निकले हों और वे इसी कारण से स्वयं अपना पार्टनर तलाश रहे हों और उसी कारण इस नई नई वधू की सुरक्षा के लिए भी उतने ही चिंतित हों।
क्योंकि इन्हीं के कारण हम नीचे मुख किये चलते रहे थे और याद आतीं रहीं वे पंक्तियाँ:

Turn, turn thy hasty foot aside,
Nor crush that helpless worm!
The frame thy scornful looks deride
Requir'd a God to form.

और इस वीर बहूटी ने तो शर्तिया साथ ले लिया है ईश्वर का अपनी निर्मिति में। इसीलिए तो संस्कृत में इसे हरिहूति कहते हैं। यह मौसम है ही हरितिमा का। उसमें हरि के ही दर्शन होते हैं। यह जो तुलसी चौबारे में है, इसका नाम हरिप्रिया है। ये जो वृक्ष मौसम की पहली बारिश में झूमने लगे हैं, ये हरिद्रुम कहलाते हैं। ये जिस घास पर हम क्षण भर को बैठे थे, इसे हरितालिका कहते हैं। ये जो कदंब मेरे घर के सामने है, इसे संस्कृत में हरिप्रिय कहते हैं। ये जो जवाकुसुम खिली हुई है, यह

हरिवल्लभा है। ये जो पीपल इन हवाओं में सिर हिला रहा है, हरिवास के नाम से जाना जाता है। ये कुशघास हरिदर्भ है और ये शाक-सब्जी हरितक। ये हल्दी हरिद्रा है। ये पत्तों में जिंदगी की तरह जिसका वजूद है, वह क्लोरोफिल हरतिल है। यह हरियाली अमावस्या जो आएगी, यह हरियाली तीज जो आएगी, यह प्रकृति में हरि के होने का हर्षोत्सव होगी। हरि को शृंगारित करने ही तो हरसिंगार खिला। जब कल्पना भी की मनचाहे फल देने वाले तरु की तो उस कल्पवृक्ष को भी हरिचंदन कहा।

सो यह हरिहूति भी प्रकृति में परम पुरुष की उपस्थिति का ही प्रमाण है।

इस मानसून में निकली है क्योंकि है तो इंद्रवधू। और इन्द्र हैं वर्षा के देवता। अब यहीं हमारे कुछ बंधु नाराज़ भी हो सकते हैं कि ये इसे कोई इहलौकिक नाम दिया जाना था। लेकिन उन्हें कौन समझाये कि वधू होना क्या होता है। देखो न कि यह एक सुहागन का लाल जोड़ा पहन के निकली है। इंद्रवधू इसे बरसात में निकलने और इस सुहागन वाले लाल जोड़े के कारण कहा गया होगा पर मुझे तो लगता है कि शायद नववधू की तरह यह छूते ही लज्जा में जो सिकुड़ जाती है तो इसलिए भी:

ज्यों ज्यों परसे लाल तन त्यों त्यों राखे गोय।
नवलवधू डर लाज तें इन्द्रवधू सी होय।।

वाकई एक नववधू की तरह लगती है यह बीरबहूटी। लेकिन मैं तो यह सोचकर हैरान होता हूँ कि यह कृमि है कि कविता है और वह दृष्टि जिसकी भी रही हो कि जिसने इसमें एक वधू को देखा, पर वह कैसी प्रीतिपूर्ण दृष्टि थी -

आधे नखकर आँगुरी, मेंहदी ललित विराजि।
मनु गुलाब की पाँखुरी, वीरबधू रहि छाजि॥

ठाठ बाट कम क्यों होंगे। आखिरकार इन्द्र की वधू है और चाहे कितना ही नयी समझ के सेकुलरिज्म का विपरीत दबाव हो, वह भी कुछ इसी वधू की तरह का है। ऐसा नाम सुनते ही सिकुड़ जाता है ये। इसके लिए कोई दूसरा नाम रखते भी क्या? हाँ एक नाम और था इसका। इसकी पीठ पर जो सुर्ख़ रंग था, वह अग्नि या अंगार-सा भी लगता है। इसीलिए तो रीतिकालीन कविहृदय ने कहा-

छन परभा के छल रही चमक मार करबार
बीरबधू के ब्याज रीं दहकत आज अंगार।

और शायद इसी कारण संस्कृत में इसे अपेक्षाकृत इहलौकिक नाम से 'अग्निरजा' भी कहा गया। पर क्या करें इन मुए भारतीयों का। उन्होंने तो हर जगह देवी-देवता घुसा रखे हैं। तो इसका यह अग्निरजा शब्द भी काफ़ी नहीं क्योंकि अग्नि तो इनका ऋग्वेद की प्रथम ऋचा से चला आने वाला देवता है।

दरअसल इस इन्द्रवधू का सेकुलराइजेशन प्रोजेक्ट इसलिए जरूरी है कि हम प्रकृति की इस चीज़ का अपने लिए बेहिचक भोग कर सकें। कि भले ही आयुर्वेद के आधार-ग्रंथों में इस बीरबहूटी का भूलकर भी उल्लेख न हो, कुछ घटिया लोग ये माने बैठे हैं कि बीरबहूटी के पाँव तथा सिर निकाल कर जो अंग बचें, उसे पान में रखकर कुछ दिन लगातार सेवन करने से फ़ालिज रोग दूर होता है। इसी तरह आजकल घटिया वैद्यों और यूनानी शिफ़ाखानों ने नामर्दी दूर करने की एक दवा बनाई है जो इस कीट को मारकर ही बनती है। वो दरअसल ऐसा है न कि एक निर्वीर्य समाज बीरबहूटी नाम से ही उसमें अपनी नपुंसकता का निराकरण ढूंढ़ता है। यह वीर की ही वधू हो सकती है। क्लीव

की तो यह विक्टिम है। यह वीर वधू थी क्योंकि यह इन्द्रवधू थी और इन्द्र चूँकि वज्रधारी हैं, इस कारण संस्कृत और सुसंस्कृत समय में इस बीर बहूटी का एक नाम वज्रगोप भी था, इंद्रगोप भी था। इन्द्र इन्हें सुरक्षित रखते थे। यह एक विचित्र-सी बात है कि गाँवों में कहीं इन्हें डुकरिया भी कहते हैं। बूढ़ी। क्या इसलिए कि जैसे बूढ़ी अम्मा की पीठ झुककर ऐसी हो जाती है जैसे कोई गठरी उठाकर चल रही हो, वैसे भी यह बूढ़ी घोड़ी लाल लगाम भी अपनी पीठ पर बोझा लादे धीरे-धीरे चलती नज़र आती है? बिहारी ने तो यही कहा था -

कुढँगु कोप तजि रँगरली करति जुवति जग जोइ।
पावस गूढ़ न बात यह बूढ़नु हूँ रँग होइ॥

उनकी बूढ़नु यही बीर बहूटी है और बिहारी कह यह रहे हैं कि देखो, नटखटपन और गुस्सा त्याग संसार की युवतियाँ अपने प्रीतमों के संग रँगरलियाँ (विहार) करती हैं। और तो और, यह बात भी छिपी नहीं है कि इस वर्षा-ऋतु में बूढ़ियों (बीर बहूटियों) में भी रंग आ जाता है - उमंग उमड़ आती है। (फिर युवतियों का क्या पूछना?) बिहारी के यहाँ उसे बार बार 'बूढ़' ही कहा गया है:

रस की-सी रुख ससिमुखी हँसि-हँसि बोलति बैन।
गूढ़ मानु मन क्यौं रहै भए बूढ़-रँग नैन॥

कि यह चन्द्रवदनी प्रेम की-सी चेष्टा से हँस-हँसकर बातें करती है, उसके हृदय का मान गुप्त कैसे रह सकता है, (फलतः) आँखें बीर बहूटी के रंग की (लाल-लाल) हो उठी हैं। तो नवयौवना की बात करेंगे और बीर बहूटी को बूढ़ भी बोलेंगे। बड़ी नाइंसाफ़ी है। पर चलिए दृष्टि दृष्टि का फ़र्क है। जो एक को वधू नज़र आती है, वही दूसरी को डुकरिया। यों गाँव में डुकरिया शब्द बड़े स्नेह के साथ भी बोला जाता है। पर जो भी हो सच तो यह है कि अब उन्हें मार मार के दुर्लभ बना दिया गया है। कैसे होते हैं वे लोग जो इतनी निरीह, इतनी मासूम, इतनी सुंदर रचना को भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरह से नष्ट कर देते हैं। कभी तो वे इतनी ज्यादा थीं कि जायसी लिखते थे - कोकिल बैन पाँति बग छूटी, धन निसरी जनु बीरबहूटी।

इतनी कि तुलसी को बारिश में मेंढकों से पहले उनका ध्यान आता था और वह सही भी है। जैसे अभी यह बारिश की शुरुआत है। मेंढक अभी नहीं दिख रहे पर ये बीर बहूटी दिख रहीं हैं जगह जगह। तो तुलसी ठीक ही इन्हें पहले याद करते हैं:

बीर बहूटी बिराजहिं दादुर धुनि चहुँ ओर।
मधुर गरज धन बरखहिं सुनि सुनि बोलत मोर॥

और कहाँ अब वे इतनी विरल होती जा रही हैं। खैर तुलसी की क्या कहें। जब इतनी पोयटिक प्रेजेन्स वाला कीट उनके सामने आएगा तो वह उनकी कल्पनाशक्ति पर छा ही जाएगा। वैसे भी यह कुछ अंचलों में राम की गुड़िया के रूप में ही जानी जाती है। उनकी ममता जितनी गिलहरी पर थी, उतनी इस नन्हीं सी जान पर भी। फिर यह क्यों नहीं होता कि राम के शरीर पर जब उनके रक्त के छींटे निकल आये थे तब तुलसी को यही बीरबहूटी की उत्प्रेक्षा सूझ पड़ी थी -

श्रोनित छीट छटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी।
मानो मरकत सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीर बहूटी॥

और राम का रक्त तब क्या आज तक भी बहाया ही जा रहा है। कुछ लोगों का तो यह प्रिय शग़ल है। पर काश कि हम यह महसूस करते कि यह पृथ्वी राम का ही शरीर है और ये बीर बहूटियाँ उनकी धमनियों का रक्त हैं।

राग यामिनी: निशा गीत

डॉ गरिमा संजय दुबे
मोटिवेशनल स्पीकर,
पुरस्कृत लेखिका

निशा, यामिनी, रात्रि, रात या जो कहें। हिंदी के शब्दकोश में शब्दों की कमी कहां हैं, अनेक पर्यायवाची मिल जायेंगे। आज मन ने रात से सहानुभूति दिखाई कि देखिए दिन के गीत हर कोई गाता है, क्या रात्रि के गीत कभी लिखे गए। दिन के प्रखर प्रकाश में, सूर्य की उपस्थिति में जीवन ऊर्जा पाता है, यह दिवस ही तो है जो हमें पुरुषार्थ सिखाता है, किंतु दिवस है तो रात्रि भी, भोर है तो सांझ भी, मध्याह्न अपराह्न है तो प्रदोष और निशीथ काल भी।

चौबीस घंटे का चक्र दिन और रात में बराबर विभाजित है, आठ पहर, चार दिन के पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायंकाल, और रात के चार - प्रदोष, निशीथ, त्रियामा और उषा।

फिर गीत केवल दिन के क्यों, महत्व केवल दिन का क्यों? क्या रात के यह चार प्रहर कोई महत्व नहीं रखते? क्या रात्रि केवल शयन के लिए है ? विश्राम के लिए है? क्या रात्रि केवल आसुरी वृत्तियों की कर्म स्थली है? मनुज का कोई उत्थान रात्रि में नहीं? प्रकृति में कुछ भी निष्प्रयोजन तो नहीं है, तो रात्रि का भी विशेष प्रयोजन तो होगा ही। दिन के चार प्रहर स्थूल जीवन की चार अवस्थाएँ हैं, बचपन, यौवन, अधेड़ और वृद्ध, रात के चार प्रहर चेतना की अवस्थाएँ हैं जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। नहीं रात्रि का महत्व कम कहां, यह रात ही तो है जो श्रीकृष्ण के जन्म की साक्षी रही, यह रात्रि ही तो है जो नवरात्रि के रूप में सिद्धि प्रदान करती है, शक्ति आराधना का पर्व रात्रि में ही शोभा पाता है, यह रात्रि ही तो है जो महाशिवरात्रि के रूप में शिव शक्ति के संयोग का हेतु बनती है, यह रात्रि ही तो है जो हर पूर्णमासी को अद्भुत सौंदर्य का संसार रचती है।

जो रात्रि न होती तो यह संसार कितने चमत्कारों के दर्शन से वंचित रह जाता। मुझे सदा ऐसा लगता है कि सूर्य प्रत्यक्ष देवता हैं, तो भी मनुष्य दिन के उजाले में भौतिक संसार ही देख पाता है, बहुत तेज प्रकाश में यूं भी दृष्टि धुंधली हो जाती है, दिन का तेज प्रकाश हमें स्थूल संसार के उपादानों से परिचित करवाता है, मनुष्य के पुरुषार्थ के परिणाम से उपजा वैभव देख मनुष्य अहंकारी हो उठता है, सूर्य की उपस्थिति में वह आसमान की तरफ प्रायः नहीं देखता और संसार के स्थूल रूप में खोया रहता है, दिवस मनुष्य के पुरुषार्थ का यशोगान है, तो रात्रि उस पुरुषार्थ हेतु ऊर्जा के संचयन का उपक्रम, दिन यदि मनुष्य की असीमित शक्तियों का जय घोष है, तो रात्रि मनुष्य की सीमा के ज्ञान का सौम्य राग है, यह तो रात्रि ही है जो संपूर्ण ब्रह्मांड के वैभव से हमें परिचित करवाती है, रात्रि में सिर उठा कर आकाश को देखने और अपने अस्तित्व को खोजने का अवसर देती है, रात्रि का तारों भरा आकाश, ग्रह नक्षत्रों से सज्जित ललाट और उसके भाल की दिव्य शोभा चंद्रमा हमें अपने इस ब्रह्मांड में अकेले, अनोखे, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ होने के अहंकार से मुक्त करती है, इस तरह रात्रि

कल्याणकारी है, तारों सितारों चांद ग्रहों की उपस्थिति हमें अपनी क्षुद्रता का आभास भी कराती है, जैसे वह कह रही हो, इस संसार में तुम्हारा अस्तित्व ही क्या है, तुम्हारी दृष्टि में आने वाले जितने तारे सितारे हैं, वो तो प्रकृति नटी के विराट आंचल में भरे अनगिनत रत्नों में से असावधानी से बिखर गए कुछेक हल्के टुकड़े भर हैं, जिन्हें तुम बहुत थोड़ा जानते हो, न जाने ऐसे कितने और तुम्हारी पृथ्वी से हज़ार गुना बड़े ग्रहों से तो मैं यूंही क्रीड़ा करती रहती हूं, न जाने कितने सूर्य, कितने चंद्र, न जाने कितनी आकाश गंगाएं हैं, तुम कहां हो, इन सबमें, तो रात्रि हमें विनम्र बनाती है, हम तारों को निहारते हुए उसके विराट स्वरूप के समक्ष या तो नतमस्तक हो जाते हैं, या जिज्ञासु हो उन रहस्यों की खोज में निकल पड़ते हैं, कोई तकनीक विज्ञान के माध्यम से तो कोई चेतना के माध्यम से, दिवस अहंकार की पुष्टि करता है, मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ होने का भ्रम देता है, रात्रि विनम्रता की जनक है, सत्य का आभास रात्रि में ही होता है, दिन का सौंदर्य कुछ मद्धम जान पड़ता है, रात्रि का सौंदर्य विशिष्ट है, दिन का आकाश कहां आकर्षित करता है, आकर्षण तो रात के आकाश में ही है, काली अंधेरी रात की पृष्ठभूमि हो तभी तो प्रकाश शोभा पाता है,

जो न हो तम तो प्रकाश की उपस्थिति का पता कैसे लगे,
जो न हो तम तो चंद्र तारे ग्रह नक्षत्र की आभा का पता कैसे चले,
कैसे दिखे लाल ग्रह मंगल,
कैसे दिखे भोर का तारा शुक्र,
कैसे दिखे ध्रुव तारा, कैसे दिखे गुरु, कैसे दिखे सप्तऋषि और कैसे दर्शन हो तीन हिरणियों के,
इन्हीं तारों से तो दिशा का बोध पाते रहे यात्री हर युग में।

दिवस और रात्रि के संधिकाल के समय का सौंदर्य अद्भुत होता है, सांझ और भोर की सुंदरता रात्रि और दिवस के महत्व को समानता पर ला देती है, कदाचित, विपरीत भावों के संधिकाल पर ही सौंदर्य ऊर्जा पाता है, भोर की लालिमा और सांझ के सिंदूरी उजास से अधिक सुंदर भला क्या, जैसे कह रहा हो, भोर का सौंदर्य रात्रि दिवस के संयोग से ही पूर्ण होता है, जैसे कहता हो सांझ का सौंदर्य दिवस रात्रि के आलिंगन से ही सार्थक होता है।

जीवन का प्रारंभ जितना सौंदर्यमयी है, उसका अवसान उससे कम सुंदर नहीं होना चाहिए, दिन का प्रारंभ जिस ऊर्जा से करें उसका समापन भी वैसी ही ऊर्जा से हो, जैसे प्रकृति यही कहना चाहती है, दिन के चार प्रहर जैसे जीवन की चार अवस्था हों, तो रात्रि के चार प्रहर क्या हुए, वे आत्म उत्थान की चार अवस्था हैं, अगले दिन की पुनः तैयारी के लिए या अगले जन्म की पुनः तैयारी के लिए, वस्तुतः हर सुबह हम नया जन्म ही पाते हैं, निद्रा को आंशिक मृत्यु यूंही नहीं कहा गया, सोकर सुबह जाग गए हो तो धन्यवाद दें, कि एक दिन और मिला जीवन को संवारने के लिए, इस दिन को संवारने की ऊर्जा रात्रि ही तो देती है हमें, जो न हो रात्रि तो विश्राम कैसे हो, चित्त की गति स्थिर कैसे हो, मन शांत कैसे हो, साधक और योगी रात्रि का विधेयक उपयोग जानते हैं, केवल उल्लू और भूत प्रेत ही नहीं जागते रात्रि में, साधक, पुरुषार्थी, कर्मयोगी भी जागते हैं रात को। दिन में तो शोर है, आपाधापी है, उठापटक है, रात्रि में शांति है, स्थिरता है, सहजता है, दिन के वैभव को देख कहीं सहम गई होगी यामिनी, दिन में तो कितने उपादान है, कहां कमी है ऐश्वर्यशाली है दिन तो मेरे लिए क्या?

प्रकृति ने कहा "क्यों चिंतित हो यामिनी, मैं किसी को भी रीता कहां छोड़ती हूं, सबको देना ही मेरा काम है, हां अपनी अपनी पात्रता और प्रवृत्ति से मेरे दिए अनुदानों से लाभान्वित होता है मनुष्य, तुम

तो यूंही गुण संपन्ना हो ब्रह्मांड के सर्वश्रेष्ठ से, किंतु सौम्य विनम्र उपादान तुम्हारे हिस्से आयेंगे।"
तो मिला ना चांद, तारे, ग्रह, नक्षत्र का सानिध्य, निशीथ काल में प्रकृति की रहस्यमयी लीला रात्रि के हिस्से ही तो आई, रहस्य तो रात्रि का सहचर है, कदाचित भय भी, रात्रि हमें अपनी सीमाओं का अतिक्रमण न करने का भय भी दिखाती है। धरती पर क्या मिला रात को, मिली न चंपा, चमेली, रातरानी, हरसिंगार, मोगरा, रजनीगंधा, ब्रह्मकमल, जैसे होड़ लगी हो, धरती और आसमान में कि देखेंकौन कितना समृद्ध कर सकता है रात्रि को, योग्यता, विनम्रता देख वरिष्ठ जन यूंही स्नेह लुटा देते हैं, भर भर कर देते हैं, तनिक विनम्र होकर तो देखिए, न भर जाए झोली अशीषों से तो कहिएगा, तो धरती ने कहा होगा अपने पुष्पों के लिए, होंगे आसमान में चमकते सितारे, ग्रह नक्षत्र, हम धरती के सितारे हैं, श्वेत, धवल, शुभ्र, हां है तुममें प्रकाश, तो हमें भी तो विधाता ने सुरभि दी है, जिनकी महक से सुवासित हो उठती है यामिनी, यामिनी कहती है, शांत रहो सबका अपना अपना महत्व है, जो तुम न हो तो कैसे ऐसी सुरभि को जानता जग और जो तारे न होते चांद न होता तो कैसे ऐसा सौन्दर्य उत्पन्न होता, वे सब मिलकर बोले यामिनी वधू का आंचल और घूंघट है सितारों भरा, और जैसे यामिनी रूपी वधू के शृंगार के लिए हम सब पुष्प अवतरित हुए हैं, हां रात्रि ही तो जननी है सृष्टि की, सृष्टि संचालन के लिए काम के विधेयक स्वरूप को भी तो रात्रि का ही आश्रय मिला है।
रात्रि के हिस्से कितने मधुर राग आएं हैं, यमन, जयजयवंती, मालकोस, दरबारी, जोगी, भैरवी आदि। यमन से लेकर भैरवी तक, यमन से प्रारंभ हो यामिनी, भैरवी को थमा जाती है उषा का हाथ और विलीन हो जाती है आदित्य की किरणों में। हां हिस्से आई अमावस भी रात्रि के, तो क्या, दीप जलाकर उस अमावस को जगमग कर दिया, दिन के जलते दीप और रात्रि में जलते दीप का भेद देखा है कभी, दीपक का सौंदर्य रात्रि से ही है, अंधेरे कोने में जलता दीप अधिक सुंदर है या उसकी पृष्ठभूमि का गहन काला तम उसे सुंदरता पूर्णता दे रहा है, कौन जाने।

रात्रि के हिस्से ही आई पूर्णमासी, शरद, कार्तिक, व्यास पूर्णिमा, जितनी भी पूर्णमासी हैं, वे कितनी पवित्र हैं, चांद की महिमा है तो क्या रात्रि की नहीं, जो न होता तम तो क्या शोभा पाता चंद्र, कीर्तन भी तो आया, चौपाल पर बैठकर फाग हो, या कोई गीत, लोक गीत का निशीथ काल में उठता स्वर निशा का सौंदर्य द्विगुणित कर देता है। रात्रि वंचित नहीं है, न ही अंधकार का पर्याय, बहुत कीमती रत्न प्रायः अंधकार में ही छुपे होते हैं, धरती का अंधकार हो, या रात का, रत्न तो वहां बिखरे पड़े हैं, कोई पहचान करने वाली दृष्टि भी तो हो, तो प्रकृति बहुत उदार है उसने किसी को वंचित नहीं रखा, तो दिवस के यशगान के साथ, रात्रि का यह सौम्य गान भी विशिष्ट है।
दिन के गीत लिखे हर कोई, निशा गीत गाए कौन?
दिन का राग खिले आतप में, चंद्रप्रभा फिर क्यों हो मौन?

गुमनाम शहीद की खोपड़ी

शिखा वार्ष्णेय
लंदन, ब्रिटेन
पत्रकार और साहित्यकार

ब्रिटेन के एस्सेक्स इलाके में स्थित पब 'लॉर्ड क्लॉयड' एक दंपत्ति को अपने एक रिश्तेदार से विरासत के रूप में मिला था, जिसके एक बंद कमरे में उन्हें एक खोपड़ी मिली। इस एकदम पीले रँग की खोपड़ी का नीचे का जबड़ा गायब था; बचे खुचे दाँत ढीले पड़ गए थे। ज़ाहिर था कि यह खोपड़ी काफी पुरानी थी। इसकी एक आँख के सॉकेट में हाथ से लिखा हुआ एक नोट भी था, जिस पर लिखा था – 'हवलदार की खोपड़ी 'आलम बेग, 46वां रजि।'

ब्रिटेन से इसका सम्बन्ध होने के कारण भारत की आज़ादी की लड़ाई में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लन्दन के योगदान को भी नहीं भुलाया जा सकता। लन्दन में स्थित कितने ही भवन, इमारतें, स्मारक उस समय की गतिविधियों और उनमें शामिल क्रांतिकारियों और शहीदों की कहानी

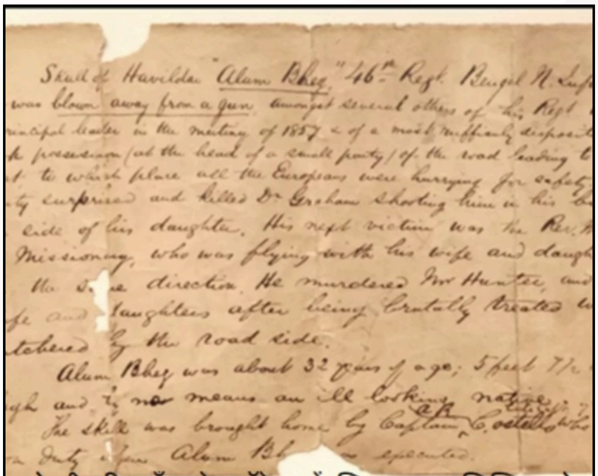
Skull of Havildar "Alum Bheg" 46th Regt. Bengal N. Inf
was blown away from a gun amongst several others of his Regt
principal leader in the mutiny of 1857 ...
... possession (at the head of a small party) of the road leading ...
... to which place all the Europeans were hurrying for safety
... surprised and killed Dr Graham shooting him in his ...
side of his daughter. His next victim was the Rev. ...
Missionary, who was flying with his wife and daugh...
the same direction. He murdered Mr Hunter, and ...
wife and daughters after being brutally treated ...
... by the road side.
Alum Bheg was about 32 years of age; 5 feet 7½ ...
high and by no means an ill looking native.
The skull was brought home by Captain A. R. Costello who ...
on duty when Alum Bh... executed.

खोपडी की ऑंख के सॉकेट में मिला हस्त लिखित नोट

कहते हैं; जिनके विषय में वक़्त वक़्त पर नए नए समाचार और अद्भुत बातें सामने आती रहती हैं। इसी क्रम में पिछले दिनों मेरी नज़र भारतीय समाचारपत्रों में प्रकाशित एक सनसनीखेज़ ख़बर पर पड़ी, जिसे देखते ही मेरी वह 4 वर्ष पुरानी खोपड़ी वाली स्मृति ताज़ा हो गई।

'पंजाब के कुएँ में मिले कंकालों पर बड़ा खुलासा: गंगा घाटी के रहने वाले थे 1857 की क्रांति के गुमनाम शहीद: पंजाब के अजनाला कस्बे के कुएँ में नरकंकाल मिले हैं, ये उन 246 भारतीय सैनिकों के हैं, जिन्हें 1857 के विद्रोह के दौरान अंग्रेजों द्वारा बेरहमी से मौत के घाट उतार दिया गया था। ये सैनिक गंगा के मैदानी इलाकों के रहने वाले थे।' यह निष्कर्ष वैज्ञानिकों की दो अलग अलग टीमों ने डी.एन.ए और आइसोटोप अध्ययन के आधार पर निकाला था।

ब्रितानी शासनकाल में भारतीयों के साथ हुई बर्बरताओं से इतिहास अटा पड़ा है। पंजाब के ही अजनाला कस्बे के गुरुद्वारे में स्थित कुएँ में 2014 में 282 नरकंकाल मिले थे। पहले समझा जा रहा था कि ये 1947 में विभाजन के दौरान हुए दंगों के हैं। लेकिन, फिर शोध में इस बात की पुष्टि की गई कि ये कंकाल असल में 1857 के क्रांतिकारियों के हैं, जिनकी हत्या अंग्रेज़ों ने की थी। जब सैनिकों ने चर्बी मिले हुए कारतूसों को मुँह से खोलने को लेकर विद्रोह कर दिया था, तो सज़ा के तौर पर उन्हें बेहद क्रूर तरीके से मौत के घाट उतार दिया गया था। इस खुलासे के बाद डी.एन.ए का

अध्ययन करने वाले शोधकर्ताओं ने दो बातों की पुष्टि की। यह निष्कर्ष वैज्ञानिकों की दो अलग अलग टीमों ने डी.एन.ए और आइसोटोप अध्ययन के आधार पर निकाला था। इनमें से अधिकतर पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, बंगाल व उड़ीसा के निवासी थे, जिनकी उम्र 21 साल से 49 साल के बीच थी। इन चौंकाने वाले खुलासों ने मुझे लन्दन में मिली उस खोपड़ी के बारे में कुछ और जानने पर विवश कर दिया। कुछ माध्यमों के ज़रिए मैंने यह जाना कि जब से भारत में इन अवशेषों पर शोध आरम्भ हुआ था, लगभग तभी (2014) से किम वैगनर को वह खोपड़ी मिली थी, जिसकी जानकारी उनकी 2017 में प्रकाशित पुस्तक The Skull of Alum Bheg: The Life and Death of a Rebel of 1857 में तफ़सील से दी गई थी।

'लार्ड क्लॉयड' पब में यह खोपड़ी 1963 में मिली थी। इसके मालिकों ने इन्टरनेट पर इसके बारे में और इसके दावेदारों के बारे में जानकारी ढूँढ़ने की कोशिश की परन्तु उन्हें कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं हुई। अंततः उन्होंने क्वीन्स मैरी विश्वविद्यालय-लन्दन के प्रो. किम वैगनर से संपर्क किया, जो ब्रिटिश साम्राज्य के दौर का दक्षिण एशिया का इतिहास पढ़ाते थे और 1957 के ग़दर पर एक किताब भी लिख चुके थे। सन 2014 में इस दंपत्ति ने यह खोपड़ी उन्हें सौंप दी। सन 1963 से 2014 में वैगनर को सौंपने तक यह खोपड़ी वाल्मर, केंट के लॉर्ड क्लॉयड पब में ही थी।

डॉ. वैगनर की पुस्तक पढ़ने के बाद मुझे उत्सुकता हुई कि अब यह पब कहाँ है और किस रूप में है। कुछ आलेखों, वेब साइट और उसके वर्तमान मालिक से फ़ोन पर हुई बातों के माध्यम से पता चला कि 'लॉर्ड क्लॉयड' 1861 के आसपास खुला। पब का नाम "लॉर्ड क्लॉयड" के नाम पर रखा गया, जो 1792 में ग्लासगो में पैदा हुए थे, भारतीय विद्रोह के समय वे भारत में कमांडर-इन-चीफ़ थे। उनकी मृत्यु 1863 में हुई थी। मुझे भारतीय खोज के समाचारों और इन सब जानकारियों के तार आपस में जुड़ते नज़र आये; मेरी उत्सुकता एवं शोध की गति बढ़ने लगी।

'द ओल्ड पब्स ऑफ़ डील एंड वाल्मर' कोश के अनुसार, 1923 में ईस्ट केंट ब्रावरी ने इस परिसर को 'बीयर हाउस एंड स्टैब्लिंग' के रूप में विज्ञापित किया और 'लॉर्ड क्लॉयड' को शराब का ठेका दिया गया। उसके बाद 1950 में इसे एक पूर्ण 'बार' का लाइसेंस मिल गया। दिसंबर 2010 में समाचार आया कि इस इमारत का नवीनीकरण हो रहा है और जल्द ही यहाँ एक फ्रांसीसी रेस्तरां 'ला बाउच' खुलेगा। नवंबर 2016 में मिली ख़बर के अनुसार ईवा और स्टीव व्हिटनी ने इस इमारत को खरीदकर इसमें एक रेस्तरां खोला जिसे उन्होंने 'व्हिट्स ऑफ वाल्मर' का नाम दिया।

अब मैंने इस जगह को स्वयं देखने का निर्णय किया तो सामने आया कि 2019 में स्टीव की मृत्यु के बाद अगस्त 2020 में एवा ने इसे एक नए नाम के साथ एक कैफ़े के रूप में खोला है जिसे "एवा'ज" (Eva's) कहा जाता है। इस जगह पर उस खोपड़ी का कोई निशान नहीं है न ही किसी को इसके इतिहास के बारे में कोई जानकारी है।

सिर्फ वैगनर की पुस्तक है जिससे इसके बारे में पता चलता है और यदि मैं चाहूँ तो वो पुस्तक मुझे पढ़ने के लिए उधार दे सकती हैं।

किसी को इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं कि आख़िर ये खोपड़ी लॉर्ड क्लॉयड पब तक कैसे पहुंची। हालांकि 1963 में जब ये खोपड़ी पब में मिली थी, तब स्थानीय मीडिया ने इसका काफी प्रचार किया था। एक नायाब और बड़ी चीज़ मिल जाने जैसी खबरें अखबारों में छापी गईं थीं। बाद में इस खोपड़ी को पब में एक दिखावटी सामान के तौर पर लगा दिया गया। जैसे जैसे इस पब के मालिक बदलते गए, इसका रूप बदलता गया तो इस खोपड़ी का स्थान भी बदलता गया होगा और

अंतत: यह एक पुरानी वस्तु की तरह, एक पुरानी बंद अलमारी में पहुँच गई होगी।
जब वैगनर ने इस खोपड़ी की जांच पड़ताल आरम्भ की तो पता चला कि आलम बेग की उम्र करीब 32 वर्ष और लम्बाई पाँच फुट साढ़े सात इंच के करीब थी। वह 1857 की बगावत का प्रमुख नेता था। इस बगावत के समय अपनी सुरक्षा के लिए जिस स्थान से सारे यूरोपियन्स जा रहे थे, आलम बेग ने उस सड़क पर कब्ज़ा कर लिया और डॉ. ग्राहम, रेवरेंड हंटर, तथा उनकी पत्नी एवं बेटियों को मार डाला।
नेचुरल हिस्ट्री म्यूज़ियम-लंदन के संग्रहाध्यक्ष ने खोपड़ी का मुआयना करने के बाद बताया कि यह उन्नीसवीं सदी के एशियाई मूल के लगभग तीस वर्षीय मर्द की ही है, खोपड़ी पर हिंसक बर्ताव के कोई निशान नहीं हैं, अनुमान लगाया गया कि इस व्यक्ति को तोप से उड़ाया गया होगा। खोपड़ी पर काटने के कुछ निशान हैं, जो शायद इसलिए कि उसे लाश से काट कर अलग किया गया होगा या फिर कीड़े मकोड़ों ने काटा होगा।
डॉ. वैगनर ने आलम बेग के बारे में काफ़ी खोजबीन की। उस समय के खतों, अर्जियों पर काफी शोध किये। उनके मुताबिक आलम बेग का सही नाम अलीम बेग था। वह उत्तर भारत का एक सुन्नी मुसलमान था। उसके हवाले सैनिकों की पूरी एक टुकड़ी थी और उनकी निगरानी करने की सख्त जिम्मेदारी थी। इसके अलावा वे चिट्ठियाँ ले जाने का काम भी करते थे और बंगाल रेजिमेंट के अफ़सरों के चपरासी की भूमिका भी निभाते थे। सन 1857 के ग़दर के बाद वे अंग्रेज़ों की पकड़ से भाग निकले परन्तु एक साल बाद ही पकड़े गए और उन्हें तोप से उड़ा दिया गया।
वैगनर को अपनी तहकीकात के दौरान अलीम बेग के अपने परिजनों को लिखे कुछ ख़त भी मिले। इतिहास की कड़ियां जोड़ने में उस दौर के एक अमरीकी मिशनरी एंड्रयू गॉर्डन के पत्रों ने भी उनकी काफ़ी मदद की। गॉर्डन 1857 और उसके बाद भी स्यालकोट में रहते थे; हंटर एवं ग्राहम दंपत्ति को निजी तौर पर जानते थे। जब अलीम बेग को तोप से उड़ाया गया तब एंड्रयू के अतिरिक्त रॉबर्ट जोर्ज कैस्तेलो भी वहाँ मौजूद था। कोस्टेलो को 1857 में भारत भेजा गया था। दस महीने बाद रिटायर होकर वह भारत से पानी के एक जहाज़ पर सवार होकर अक्टूबर 1858 में ब्रिटेन के लिए रवाना हुआ था। क़रीब एक महीने बाद वो ब्रिटेन के साउथहैम्पटन बंदरगाह पहुंचा, माना जाता है कि वही अलीम बेग की खोपड़ी को भारत से ब्रिटेन लेकर आया। इसके अतिरिक्त, किसी भी ब्रिटिश या भारतीय दस्तावेज़ों में अलीम बेग का ज़िक्र नहीं मिलता, न ही किसी वारिस ने आज तक इस खोपड़ी को लौटाने की माँग की है।
ब्रिटेन से प्रकाशित एक अख़बार 'द स्फ़ेयर' के 1911 के एडिशन में व्हाइट हॉल-लंदन में लगी एक नुमाइश के माध्यम से इस खोपड़ी का ज़िक्र मिला, जिसमें लिखा था: हमें बताया गया है कि रॉयल यूनाइटेड सर्विस इंस्टीट्यूशन के व्हाइट हाल स्थित म्यूज़ियम में हिंदुस्तान के हिंसक ग़दर की याद दिलाने वाला एक स्मृति चिह्न रखा गया है। ये एक सिपाही की खोपड़ी है, जो 49वीं बंगाल रेजीमेंट से ताल्लुक़ रखता था, जिसे 1858 में 18 दूसरे लोगों के साथ तोप से उड़ा दिया गया था। अब इस खोपड़ी को सिगार-बॉक्स बना दिया गया है। फ़िलहाल, भारतीय इतिहास का यह गुमनाम पन्ना डॉ. वैगनर के पास ही सुरक्षित है। वे चाहते हैं कि अलीम बेग की खोपड़ी सम्मानपूर्वक भारत वापस की जाए, भारत-पाकिस्तान के बीच रावी नदी के तट पर उसका पूरे रीति रिवाज के साथ अंतिम संस्कार किया जाये, ताकि उस गुमनाम क्रांतिकारी, के बारे में भारतीय जान सकें, जिसका भारत की आज़ादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

डॉ. वैगनर की पुस्तक 'द स्कल ऑफ़ आलम बेग' इतिहास के एक महत्वपूर्ण दौर को
खुलासा करती है। भारत में भी इतिहासकार और वैज्ञानिक वर्ष 2014 से लगातार, पंजाब के अजनाला कस्बे के एक कुएँ में मिले जिन अवशेषों और नरकंकालों पर जांच कर रहे हैं और चौंकाने वाले खुलासे कर रहे हैं। उनका उद्देश्य भी इन सैनिकों की पहचान करके उनके परिजनों को वे अवशेष देना है, ताकि उनका अंतिम संस्कार किया जा सके।

संदर्भ सूची:

The Skull of Alum Bheg: The Life and Death of a Rebel of 1857: Kim Wagner

इन्टरनेट पर उपलब्ध विभिन्न साइट्स पर सामग्री।

The East Kent Mercury 8 December 2011

न्यूज डेस्क, अमर उजाला-वाराणसी

तस्वीरें – गूगल से

वातायन
vatayan

नृत्य : आत्मा का आलाप

प्रो परिचय दास
पूर्व अध्यक्ष, नव नालंदा महाविहार विश्वविद्यालय

नृत्य केवल देह का अभिनय नहीं, वह आत्मा की आहट है। जब शब्द मौन हो जाते हैं और संगीत भी अपना सिर झुकाता है, तब नृत्य बोलता है। अंतरराष्ट्रीय नृत्य दिवस एक ऐसा क्षण है जब पृथ्वी अपनी धुरी पर एक बार नहीं, हजार बार घूमती प्रतीत होती है क्योंकि हर भूभाग पर, हर मनुष्य के भीतर, कोई न कोई नर्तक जन्म लेता है। वह नर्तक जो ताल से बँधा नहीं होता, लय में बसा होता है। उसकी देह में धरती की धड़कनें होती हैं और उसकी आँखों में आकाश के संकेत।

शब्दों के इतर, नृत्य एक मौन भाषा है जो चुपचाप कह देती है वह सब जो कभी कह नहीं सकते। यह वह संवाद है जो हृदय से निकलकर देह के माध्यम से आकाश में उछलता है। एक पद की थिरकन जब मिट्टी को छूती है, तो वह केवल संगीत नहीं रचती, वह मिट्टी को ममता, वासना, व्यथा और विजय का अनुभव कराती है। नृत्य वह क्षण है जब शरीर आत्मा की पगडंडी पर चलना सीखता है और आत्मा शरीर की मर्यादाओं को विस्मृत कर देती है।

नर्तकी की आंखें जब एक भाव में ठहरती हैं तो पूरा ब्रह्मांड उसकी दृष्टि में सिमट आता है। वह जब एक हाथ ऊपर उठाकर किसी वृत्त की कल्पना करती है तो वह ब्रह्मांड का चक्र बन जाता है। उसकी कमर का हल्का सा झुकाव किसी वियोगिनी की वेदना हो सकता है और उसका सिर का उठना किसी स्वाभिमानी स्त्री का उद्घोष। वह जो कुछ भी करती है, वह केवल कला नहीं, जीवन का पुनर्सृजन होता है।

यह दिवस केवल नर्तकों के लिए नहीं, उन सबके लिए

यह दिवस हमें याद दिलाता है कि गति ही जीवन है, और ठहराव केवल भ्रम। नृत्य गति का उत्सव है, और जीवन का सबसे मौन किन्तु मुखर अभिव्यक्ति। यह केवल मंच का कौशल नहीं, यह आत्मा का मंचन है। आज जब विश्व एक दूसरे से दूर है, भाषाएँ जटिल होती जा रही हैं, और मनुष्य की संवेदना सूखने लगी है, तब नृत्य एक ऐसा शरण है जहाँ हम फिर से मनुष्य बन सकते हैं।

नृत्य जब ईश्वर का रूप धरता है, तो वह तांडव होता है—विनाश में भी सृजन की संभावना लिए। और जब वह प्रेम का स्पर्श करता है तो वह रास बन जाता है—जहाँ प्रत्येक गति में अनुराग की पराकाष्ठा होती है। यह विरोधाभास नहीं, नृत्य की परिपूर्णता है। वह करुणा और क्रोध, आलिंगन और वियोग, जीवन और मृत्यु, सबको एक साथ साध लेता है और शायद इसलिए, नृत्य केवल कला नहीं—दर्शन है।

जिस देह को साधु त्यागते हैं, उसी देह को नर्तक साधता है। एक मुद्रा, एक दृष्टि, एक अंगुलि की गति—इन सबसे जब आत्मा संवाद करती है, तब वह नृत्य होता है और वह संवाद किसी एक जाति, भाषा या देश का नहीं होता—वह समूची मानव जाति का होता है। अंतरराष्ट्रीय नृत्य दिवस इसी सार्वभौमिकता का उत्सव है। यह वह क्षण है जब जापान का बुतो, अफ्रीका का जनजातीय नृत्य, भारत का कत्थक, स्पेन का फ्लैमिंगो, रूस का बैले—सभी एक ही मंच पर आ खड़े होते हैं।

वहाँ कोई प्रतियोगिता नहीं होती, केवल एक सामूहिक मौन होता है, जिसमें सबकी देह अपने-अपने लोक की कथाएँ कहती हैं।

देह सीमित है, पर नृत्य उस सीमा की सबसे विराट व्याख्या है। जब नर्तक का पाँव उठता है, तो वह केवल धरती से दूर नहीं होता, वह आत्मा की किसी भूली हुई लय को जगाता है। वह स्मृति जो न तो इतिहास में है, न आत्मकथा में—केवल देह के भीतर गूँजती रही है, वह मुखर होती है। इसीलिए नृत्य में जो कहा जाता है, वह सुना नहीं जाता बल्कि अनुभव किया जाता है।

अंतरराष्ट्रीय नृत्य दिवस पर जब एक छोटी बच्ची पहली बार अपनी हथेली घुमाती है और एक वृत्त बनाती है, तब वह किसी परंपरा की नहीं, उस आदिम इच्छा की प्रतिनिधि बन जाती है—जो ब्रह्मांड के पहले थिरकते कणों से आज तक अनवरत है। यह दिवस उन सभी के लिए है, जिनकी आत्मा में लय है—भले ही उनकी देह उसे आज न दोहरा सके।

नृत्य अकेले का कर्म नहीं—यह संबंधों की पुनर्रचना भी है। जब दो नर्तक साथ होते हैं, तो उनके बीच केवल लय नहीं, एक अनदेखा विश्वास भी होता है। वे एक-दूसरे की गति में खुद को खोते हैं और वही खो जाना आत्मा की प्राप्ति है। यही कारण है कि नृत्य आत्मा और संबंधों दोनों का योग है—जहाँ मनुष्य सबसे पहले देह से प्रेम करना सीखता है, फिर देह से परे जाना।

जब दीप जलता है, तो वह केवल प्रकाश नहीं देता—वह एक आह्वान होता है। नृत्य भी वैसा ही आह्वान है—एक धीमी पुकार जो कहती है: "चलो, थिरको, जियो, भूलो और बनो कुछ ऐसा जो स्थूल नहीं लेकिन पूर्ण हो।" आज के यंत्रवत समय में, जब मनुष्य मशीन बनता जा रहा है और गति का अर्थ केवल उत्पादकता रह गया है—नृत्य उस गति को पुनः कविता में बदलता है। वह कहता है—"गति का एक और अर्थ है—लय।"

जब पूरी दुनिया एक साथ लय में आती है तब कोई युद्ध नहीं होता, कोई घृणा नहीं रहती। केवल वह क्षण होता है—जिसमें हम सब एक होते हैं। यही तो है अंतरराष्ट्रीय नृत्य दिवस की सबसे गूढ़ और सुंदर घोषणा: कि हम सब नर्तक हैं, हम सब एक लय के वंशज हैं।

नृत्य वह प्रथम प्रार्थना है जो भाषा से पहले बोली गई। वह शरीर की वह प्राचीन स्मृति है, जिसे किसी विद्यालय, किसी ग्रंथ, किसी आश्रम में नहीं सिखाया जा सकता। यह वह क्रिया है जो
उस क्षण जन्म लेती है जब मनुष्य अपने भीतर के मौन को सुनने लगता है। अंतरराष्ट्रीय नृत्य दिवस इसी मौन की मुखरता है, जहाँ देह, मन और आत्मा एक साज बन जाते हैं और हर थिरकन एक राग।

जब कोई अज्ञात बच्चा किसी सुनसान गली में अपनी छाया के साथ थिरकता है या कोई बूढ़ी स्त्री अपनी खाट पर बैठी, बीते दिनों के गीतों पर अपनी उँगलियाँ हिला देती है—तब वहाँ भी नृत्य होता है। नृत्य केवल मंच पर नहीं होता, न साज के सहारे ही होता है—वह जीवन की हर उस गति में छिपा है जहाँ मनुष्य खुद को स्वयं के निकट लाता है। नृत्य, वस्तुतः, आत्मा की स्वीकृति है—स्वयं के प्रति, देह के प्रति और उस अदृश्य के प्रति जो सबमें लय की तरह बहता है।

जिस तरह चित्र में रंग होते हैं, संगीत में स्वर, कविता में छंद—उसी तरह नृत्य में समय होता है। पर वह समय घड़ी का नहीं होता, वह उस चित्त का होता है जो शरीर को भुलाकर ब्रह्मांड की स्पंदन में विलीन हो जाता है। इसीलिए, जब कोई नर्तक अपने नख-शिख से गति को गहनतम अर्थ देता है, वह ईश्वर की सृष्टि के रहस्य को अपने भीतर दोहराता है। यह दोहराना पुनरावृत्ति नहीं, पुनर्जन्म है।

इस दिवस पर जब विभिन्न देशों, जातियों और संस्कृति के लोग अपने-अपने पारंपरिक और

आधुनिक नृत्यों के माध्यम से संवाद करते हैं, तब वे एक ऐसा संसार रचते हैं जो कूटनीति, राजनीति और व्यापार की सीमाओं को लांघता है। वहाँ केवल लय की सत्ता होती है, और लय कभी किसी एक की नहीं होती—वह समवेत की भाषा है।

नृत्य में जब देह उछलती है, वह उन्मुक्ति की आकांक्षा मात्र नहीं, वह उस सीमाओं को पार करने की चेष्टा है जो मनुष्य को मनुष्य से दूर करती हैं। इसीलिए एक नर्तक जब किसी प्रतीकात्मक मुद्रा में ठहरता है, वह केवल एक दृश्य नहीं रचता—वह एक विचार को देह देता है। वह विचार प्रेम हो सकता है, प्रतिरोध हो सकता है, करुणा हो सकती है या साक्षात्कार।

सबसे बड़ा नृत्य वह होता है जब हम जीवन की कठोरता के बीच भी लय खोज लेते हैं। जब मृत्यु के सामने भी कोई भरतनाट्यम का 'अरण्यानी' भाव लेकर खड़ा हो जाता है, जब कोई नर्तकी सूने मंच पर बिना दर्शकों के अपने घुंघरू बाँधती है, जब कोई जनजातीय बालक सर्दी की रात में अंगारों पर नाचता है—तो वहाँ जीवन एक गान बन जाता है, नृत्य की वाणी में। अंतरराष्ट्रीय नृत्य दिवस केवल एक तिथि नहीं, एक स्मरण है कि मनुष्य तब तक मनुष्य है जब तक उसमें गति है, लय है और आत्मा का वह चुप स्पंदन जिसे कोई केवल नृत्य में ही समझ सकता।

नवरात्रे और डाउन संस्कृति

हरीश नवल
दिल्ली विश्वविद्यालय में दशकों प्राध्यापक और 'गगनांचल' के सम्पादक पदों से सेवा निवृत्त, अंतरराष्ट्रीय सम्मान प्राप्त लेखक

नवरात्रे आरंभ होते ही नगरों में अनेक फैशनदार रेस्टोरेंट नौ दिन तक छुट्टी करते हैं। कारण कि नौ दिन तक अनेकानेक नागरिक मांस नहीं खाते, अतः मांस रेस्टोरेंटों में पकेगा नहीं। रेस्टोरेंट वाले पूजा करें न करें, आराम ज़रूर कर लेंगे। नवरात्रों पर मांस-भक्षण? राम! राम! हमारी संस्कृति है कि दुर्गा माँ, वैष्णो माँ, चिंतपुरनी वाली माँ या संतोषी माँ के व्रत वाले दिनों में मांस-मदिरा नहीं चलती परंतु हमारी संस्कृति तो डाउन है जो अप है वह अपसंस्कृति महान है। नवरात्रों को छोड़, शेष दिनों में कसर कस कर पूरी कर ली जाती है।

संस्कृति बताती है कि सपने में भी वचन की रक्षा करने पर राजा हरिश्चंद्र त्यागी कहलाए। उन्हें सत्य की रक्षा करने पर सजा मिली और अपसंस्कृति यह है कि दर्जनों हत्याएँ करके भी अपराधी मुक्ति पर्व मना रहे हैं।

भारत कभी एक सभ्य और सुसंस्कृत देश था जो अपनी आन-बान के लिए प्रसिद्ध था। बड़ों की इज़्ज़त, गुरु का सम्मान, पड़ोसी धर्म का पालन एक गौरवशाली परंपरा थी किंतु अब तो संस्कृति दांत किटकिटाती 'किटी संस्कृति' है। महानगरों के हर आधुनिक बाज़ार में ,आधुनिक होटलों और रेस्टोरेंट आदि में 'किटी पार्टी' के लिए विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। मालदार और जानदार नवकुबेरनियां यहाँ बैठ नवसंस्कृति 'डिस्कस' करती हैं, बबलू की बातें भुला 'पपलू' खेलती हैं। मम्मी तत्त्व वहाँ गौण और रमी तत्त्व प्रमुख हो जाता है और भगवती माई की चर्चा शून्य तथा घर में काम करने वाली 'माई' की चर्चा अपार होती है। कारण कि अब नागरी संस्कृति बहुत अप हो गई है, बल्कि हैप हो गई है।

फिर भी दोस्तो रम नहीं तो भी गम नहीं। नवरात्रे चल रहे हैं। नौ दिन नहीं रमेंगे - शेष दिन तो अपने हैं, सपने नहीं है। नवरात्रों में हम वीरव्रती हैं। व्रत रखे हुए हैं - किटी पार्टी वाली तन्वंगियां भी 'कुट्टू पार्टी' में सिंघाड़े और कुट्टू का आटा खा रही हैं। हमारी चेतना और भावना भी नौ दिनों के लिए शुद्ध और पवित्र रहती हैं। तभी हमें अपने प्यारे दुलारे नगर की संस्कृति की चिंता खा रही है - ग़ज़ब ढा रही है। जितने हम सभ्य हो रहे हैं उतनी ही संस्कृति गड्ढे में गिर रही है, फिलहाल हम गड्ढे में खड़े पान-मसाला खाते हुए इसे भीतर गिरने से रोक रहे हैं क्योंकि आजकल व्रत चल रहे हैं। तब तक चीयर्स बाद में... पीयर्स ही पीयर्स।

मुख्य अतिथि की अर्हता

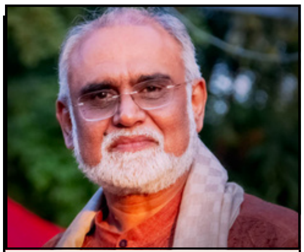

डॉ सच्चिदानंद जोशी
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के सदस्य-सचिव, लेखक, कलात्मक क्षेत्रों में अभिरुचि, रंगमंच, टेलीविजन तथा साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय।

शनिवार की सुबह सुबह फोन की घंटी बजी। अनजान नंबर था। वैसे जब से चुनाव प्रचार वालों ने फोन का सहारा ले लिया है तब से अनजान नंबर उठाने में दहशत होती है। इंदौर , अहमदाबाद, बैंगलोर और न जाने कहां कहां के कोड से चुनाव प्रचार के फोन आते हैं।
ये नंबर कुछ अलग था इसलिए उठा लिया।
"नमस्ते भाई साहब, प्रमोद बोल रहा हूं गौ सेवा न्यास से। आप क्या कर रहे हैं इस रविवार?"
प्रश्न अप्रत्याशित था और पूछने वाला अपरिचित।
"माफ कीजिए प्रमोद जी आपको पहचाना नहीं।" मैंने यथासंभव विनम्र होते हुए कहा। प्रमोद जी ऐसे हंसे मानो मैंने कोई बहुत मजाकिया लतीफा सुनाया हो।
"आप कैसे पहचानेंगे। आपका नंबर तो मुझे गोवर्धन भाई साहब ने दिया है। कल हमारे न्यास का वार्षिक उत्सव है उसमें आपको बुलाना चाहते हैं, मुख्य अतिथि के रूप में।"
गोवर्धन भाई साहब को मैं जानता था। लेकिन गौ सेवा में मेरी गति शून्य ही थी। लिहाजा मैंने क्षमा याचना करते हुए कहा, "गौ सेवा में मेरी कोई गति नहीं है। और आपको तो गोवर्धन भाई साहब को ही बुलाना चाहिए था। वे तो इस क्षेत्र में बहुत काम कर चुके हैं।"
प्रमोद जी ने फिर एक ठहाका लगाते हुए कहा, "जी बुलाया तो उन्हें ही था, वे आने भी वाले थे लेकिन ऐन वक्त पर उनका दूसरा कार्यक्रम आ गया। इसलिए वे हमारे यहां नहीं आ पाएंगे। उन्होंने ही आपका नाम सुझाया है।"
गौ सेवा विषय का तनिक भी ज्ञान न होते हुए मुझे गौ सेवा न्यास के कार्यक्रम में गोवर्धन भाई साहब की अनुशंसा पर जाना पड़ा। कार्यक्रम में अंत में आभार प्रदर्शन के समय प्रमोद जी ऑडियंस को ये बताना नहीं भूले कि ऐन वक्त पर गोवर्धन जी के न आ पाने के कारण हमें इन्हें मुख्य अतिथि के रूप में बुलाना पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी बता दिया कि गौ सेवा मेरा विषय न होते हुए भी मैं सिर्फ उनके आग्रह पर आया हूं। वैसे ऑडियंस को भी यह बात मेरा भाषण सुनकर समझ में आ ही गई होगी।
अपमान की पराकाष्ठा तो तब हुई जब कुछ दिन बाद गोवर्धन भाई साहब से अनायास भेंट हुई और मैंने उन्हें ये वाकया सुनाया। मुझे लगा कि वे आखिरी समय में ये दायित्व निभाने के लिए मेरा शुक्रिया अदा करेंगे। लेकिन उनकी प्रतिक्रिया इसके उलट थी, "अरे तो वो प्रमोदवा आपको फांस ले गया। मैंने तो उससे पीछा छुड़ाने की नीयत से तीन चार नाम बता दिए थे, उनमें आपका भी नाम था। बाकी तो निकल लिए आप फंस गए।" गोवर्धन भाई ने इसके बाद अपना चिरपरिचित ठहाका लगाया , लेकिन उस दिन मुझे उनका वो ठहाका बिल्कुल भी पसंद नहीं आया।
ऐसे ही एक और कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के तौर पर बुलावा आया। आयोजक ने बड़े गर्व से बताया कि उसने इस कार्यक्रम के लिए तीन सौ की कैपेसिटी वाला ए.सी. हाल लिया है। इससे पहले कि मैं उसकी प्रशंसा में कुछ कह पाता आयोजक ने पूछा, "आप कितने लोग ला पाएंगे।"
मुझे वो प्रश्न समझ में नहीं आया, "कितने का क्या मतलब है?"

“मतलब ये कि घनश्याम जी को बुलाओ तो वो अपने चालीस पचास श्रोता तो ले ही आते हैं। अब ये हाल बड़ा है तो आप पचास की जिम्मेदारी तो ले ही लीजिए।" मामला मेरी समझ से बाहर था। मेरे चेहरे का भाव देख आयोजक महोदय मायूस हो गए और उन्होंने अपने सहयोगी को यूं घूरा मानो कह रहे हों, "ये किसके पास ले आए यार।”

मेरा नाम सहयोगी ने सुझाया था शायद इसलिए कोशिश करना उसका भी फ़र्ज़ था। चर्चा की बागडोर सम्हालते हुए बोला, "अच्छा ऑडियंस तो हम जुटा लेंगे जैसे तैसे, आप पब्लिसिटी और अखबार में खबर का देख लीजिए। सुना है आपके अखबारों में अच्छे संबंध हैं। दो चार भी प्रेस फोटोग्राफर आ गए तो काम बन जाएगा। अपने चेलों से कहकर सोशल मीडिया पर कार्यक्रम की सूचना और खबर शेयर करवा दीजियेगा।”

"देखिए मैं कोशिश करूंगा। लेकिन वादा नहीं कर सकता। मेरी कोई मीडिया टीम नहीं है।” मैंने बात स्पष्ट करते हुए कहा। तब तक आयोजक महोदय मेरे फेसबुक, एक्स और इंस्टाग्राम अकाउंट चेक कर चुके थे और मुझसे मिलने के लिए हुई वक्त की बरबादी पर झल्ला रहे थे। उनसे रहा नहीं गया और सहयोगी से बोला, "चलो यार, बहुत समय बर्बाद हुआ। घनश्याम जी से ही दोबारा पूछते हैं।”

जिंदगी में अर्हता न होने के कारण कई नौकरियों में ठुकराए गए हैं। लेकिन अपने पास मुख्य अतिथि की भी अर्हताएं नहीं हैं, ये जानकर नौकरी में ठुकराए जाने से भी ज्यादा दुख होने लगा।

मुख्य अतिथि के रूप में आयोजक आपसे समय पर आने की और दिए गए विषय पर भाषण इत्यादि देने की अपेक्षा करते हैं तो समझ में आता है लेकिन जब आयोजक आपसे यह भी अपेक्षा करे कि आप ऑडियंस भी लाएं और कार्यक्रम की प्रसिद्धि में योगदान भी दें तो लगता है कि ऐसे आयोजनों के लिए विनम्रता से मना ही कर देना चाहिए।

लेकिन वो अगर पहले पता हो तो मना करें। यदि कोई आयोजक मान ही बैठे कि आप ये सब करेंगे तो आप क्या कर सकते हैं। एक बार ऐसे ही आयोजन में दिए गए समय पर पहुंच गए। देखा हॉल एकदम खाली था। लगा कि गलत हॉल में आ गया हूं। फिर स्टेज पर नजर गई जहां कार्यक्रम का बैनर लगा था और जो आयोजक महोदय थे वो स्टेज पर फूल माला का इंतजाम कर रहे थे। फिर लगा कि मैं शायद गलत समय पर आ गया हूं।

“आइए सर। देखिए न ससुर एकौ ऑडियंस नहीं आया। इतनी पब्लिसिटी किए, बैनर पोस्टर सब छपवाए लेकिन कोई फटकने का नाम ही नहीं ले रहा है।”

मैं असमंजस में था कि आयोजक महोदय के इस स्वागत संबोधन का क्या उत्तर दूं। कार्यक्रम का विषय गंभीर था इसलिए दो तीन दिन लगकर भाषण की तैयारी की थी।

आयोजक का भुनभुनाना जारी था, "वो ससुरे स्कूल वाले भी ऐन वक्त पर दगा दे गए। और ये रामेश्वर भी नहीं आया अभी तक।”

"रामेश्वर कौन?” मैंने एक निरर्थक प्रश्न पूछा। क्योंकि रामेश्वर कोई भी होता तो क्या फर्क पड़ने वाला था मुझे।

“अरे हमारी संस्था का सेक्रेटरी। उसे भेजा था पास वाली बिल्डिंग से कुछ कोचिंग के बच्चों को लाने।”

“कोचिंग के बच्चे?"

"अरे वो बच्चे रहते हैं न आसपास के कमरों में, बुलाने पर आ जाते हैं नाश्ते के लालच में। भंवरी के

यहां से कचौड़ी भी बनवा लिए पचास आदमियों के हिसाब से, यहां पांच आदमी भी नहीं हो रहे हैं। का करें हमारी तो समझे से बाहर है।"

"कार्यक्रम की अध्यक्षता तो त्रिपाठी जी को करनी है न, वो भी नहीं आए अभी तक।" मैंने जरा विषय बदले इस नीयत से पूछा।

"त्रिपाठी जी है बिजी आदमी। अभी होंगे किसी दूसरे कार्यक्रम में, अपने भाषण के समय आ जायेंगे। ऑडियंस नहीं देखेंगे तो वो भी नाराज़ होंगे। कहेंगे किसको बुला लिए हो, कौने आने को ही नहीं है।"

मेरे मन में इस बात का अपराध बोध गहराता जा रहा था कि मेरे कारण ही ऑडियंस नहीं आ पाई है। तभी रामेश्वर भी पसीना पोंछता आ गया। उसके चेहरे से दिख रहा था कि उसे सफलता नहीं मिली। वह चुप भी रहता तो भी बात समझ आ ही जाती। लेकिन उसने बता कर मेरी ग्लानि को और बढ़ाना जरूरी समझा।

"कोई नहीं आ रहा भैया। भंवरी की कचौड़ी के लालच में भी नहीं। ससुरे कहते है सेल्फी वाला गेस्ट बुलाते तो मजा आता। अब इनके साथ कौन सेल्फी लेगा। कोई लाइक नहीं मिलेगा।"

ऐसा लगने लगा कि यह सत्र अब यही समाप्त हो और मैं घर की राह लूं। लेकिन चूंकि हाल का किराया दिया जा चुका था और भंवरी की कचौड़ियां आ चुकी थी, इसलिए कार्यक्रम हुआ। आयोजन समिति के तीन और हाल की सफाई वाले चार इस तरह सप्तऋषियों के सामने मैंने बड़े जतन से तैयार किया भाषण सुनाया। त्रिपाठी जी ने अपने जासूस के माध्यम से यहां की ऑडियंस का हाल जान लिया और कन्नी काट ली। कहना न होगा कि उसका ठीकरा भी आयोजक ने मेरे ही सिर फोड़ दिया।

अंततः बिना तय आवागमन व्यय, बिना शॉल गुलदस्ते के मैंने घर की राह ली। संतोष बस इतना ही था कि आयोजक महोदय ने सदाशयता भंवरी की दस कचौड़ियां बांध दी थी।

उषा वर्मा का साक्षात्कार

डॉ वंदना मुकेश
लेखिका, प्रयोजनमूलक अंग्रेज़ी की प्राध्यापिका एवं केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अंतर्राष्ट्रीय परीक्षा विभाग में परीक्षक हैं।

उषा वर्मा, प्राध्यापिका, भारतीय भाषा संगम-यॉर्क की संस्थापक, लेखिका, अनुवादक, समीक्षक और संपादिका हैं, जो ब्रिटेन के हिन्दी जगत में एक महत्वपूर्ण नाम है। उनका लेखन मानवीय संवेदना और सामयिक स्वर से ओत-प्रोत हैं।

2008 में उषा वर्मा को पद्मानंद साहित्य सम्मान यू.के. से सम्मानित किया गया था। उसी के पश्चात डॉ वंदना मुकेश ने उषा जी का यह साक्षात्कार लिया था। यह साक्षात्कार साहित्य के प्रति उनकी प्रतिबद्धता, उनकी रचना प्रक्रिया एवं रचना कर्म की बारीकियों को उजागर करता है।

उषा जी आजकल शेफ़ील्ड में अपने परिवार के साथ रहती हैं।

वंदना मुकेशः आपको लिखने की प्रेरणा कैसे मिली?

उषाजीः सबसे ज़्यादा प्रेरणा तो माँ से मिली, जो प्रतिदिन दोपहर में सस्वर 'जयद्रथ-वध', 'भारत-भारती' आदि का पाठ किया करती थीं। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएं पढ़ती थीं और शौकिया लिखती भी थीं। मेरे मन में साहित्यकारों के लिए अत्यंत सम्मान था। किंतु मुझे ऐसा वातावरण नहीं मिला, जहाँ मैं साहित्यिकि गोष्ठियों में लोगों से विचारों का आदान-प्रदान कर सकती। मैं स्वयं साहित्यकार बनूं ऐसी आकाँक्षा तो थी ही; पढ़ और लिख सकूँ, यही सब से बड़ी बात थी। जो लिखा वह कभी रखा नहीं। ब्रिटेन आने पर वह भी छूट सा गया। स्वर्गीय डॉ. सिंघवी जी और श्रीमती कमला जी ने ब्रिटेन में साहित्य का पांच-जन्य फूंका। उसके बाद चित्रा मुद्गल को 2000 में इंदु कथा साहित्य सम्मान मिला था; उस समारोह में मैंने अपनी एक 'नारी' कविता उन्हीं को समर्पित करते हुए पढ़ी। मुझे ऐसा लगा कि चित्रा जी की उर्जा मुझ में प्रवाहित हो रही है; उनसे मुझे लगातार लिखते रहने का प्रेरणा मिली और तब से सिलसिला सा बन गया।

वंदना मुकेशः आप मूलतः कवयित्री हैं; आपने कहानी लिखना कब शुरू किया?

उषाजीः मुझे कहानी लिखने का बचपन से ही शौक था। कविता लिखना सुविधाजनक होता है, उसके लिए आपको देर तक बैठना नहीं होता है। जब मैंने एम. ए. किया तो मैंने एक आलेख 'लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म' पर 'त्रैमासिक दर्शन' (फ़िलॉसॉफ़ी की पत्रिका) में भेजा, जिसके संपादक प्रो. संगम लाल थे, उन्होंने कुछ सुझाव देते हुए लेख मुझे वापस भेजा और साथ ही एक पत्र भी, जिसमें एक वाक्य लिखा, 'आप कहीं लेक्चरर हैं?' मैंने उन्हें जवाब में लिखा 'कि कुछ लिखने के लिए लेक्चरर होना ज़रूरी होता है क्या?' वे बड़े सज्जन व्यक्ति थे, 'उन्होंने लिखा कि मेरा ऐसा कोई आशय नहीं था। आप लेख भेज दीजिए।'

वंदना मुकेशः आपकी पहली प्रकाशित/अप्रकाशित कहानी कौन सी थी?

उषाजीः 50 के आसपास 'गॉडस् हट'।

वंदना मुकेशः कविता और कथा की रचना प्रक्रिया में क्या अंतर है?

उषाजीः कविता मन का उद्गार है, कहानी उद्गार नहीं होती। कविता में अर्थ का विस्फ़ोट होता है, कहानी में विस्फ़ोट न हो कर अर्थ का विस्तार होता है। मेरे लिए कहानी मंथर गति से नदी के जैसे बहती है, कविता एक पहाड़ी झरना है जो एकाएक झरझराकर आता है और निकल जाता है। जब उसमें बहुत प्रयास होने लगते हैं तो इसका मतलब है कि उसका कोई मोटिव है। जैसे आजकल भी बहुत सी कविताएँ इसी भाव से लिखी जा रही हैं। पहले जो कविताएँ लिखी जाती थीं, उन में उद्गार होते थे फिर उन उद्गारों को सजाने के लिए रायमिंग और मात्राएं देखी जाती थीं।

वंदना मुकेशः अपनी कहानियों की रचना-प्रक्रिया के विषय में विस्तार से बताइए।

उषाजीः लिखने में दो चीज़ें आती हैं एक है घटना - दिमाग में कौन सी चिपक गई या दिल में एकदम बस गई है, जो आपको उद्वेलित करती है। वो धीरे-धीरे पकती रहती है। फिर यह आप पर निर्भर करता है कि आप किस तरह के लेखक हैं। आप देखी हुई बातों को घटना के परसेप्शन से ही लिखते हैं, तो वे फ़र्क हो जाती हैं। लेकिन अगर आपका कोई एक उद्देश्य हो, और आप घटना के साथ-साथ अपने विचार तत्व मिला दें तो वह कहानी एक भिन्न धरातल पर लिखी जाती है। 'कॉस्ट-इफेक्टिव' कहानी में घटना 'बिली गोट' को लेकर घटी। इंग्लैंड में बकरे का माँस खाया नहीं जाता तो शर्ली बकरियों को जन्म लेते ही मार देती है, क्योंकि उन्हें बेचा नहीं जा सकता। इस घटना को देखते ही मेरे मन में आया कि जिस चीज़ का उपयोग न हो उसको आप खत्म कर दें? यही आज का बाज़ारवाद है; अमानवीयता का शिकार 'बिली गोट' असहाय आदमी का प्रतीक है।

वंदना मुकेशः वास्तव में आपसे मेरा प्रथम परिचय 'रॉनी' के माध्यम से हुआ। साहित्य जगत में इस कहानी ने एक क्लासिक कहानी के रूप में अपनी पहचान बनाई है। इस कहानी का विचार-तत्व और कथ्य, दोनों ही बड़े सबल हैं। कथा-पक्ष बड़ी ही मार्मिकता और सजीवता के साथ उभरा है, इसके विषय में कुछ बताइए।

उषाजीः ये कहानी है 1980 की; टीचर ट्रेनिंग ख़त्म हो चुकी थी, मुझे मेट्रोपोलिटन यूनिवर्सिटी के एजुकेशन डिपार्टमेंट में नौकरी मिल गई। मैं अपने पी.जी. विद्यार्थियों के निरीक्षण के लिए स्कूलों में जाती थी, इनर सिटी के स्कूलों के अधिकतर उपेक्षित वर्ग के बच्चे आते थे – बेरोज़गार, सिंगल पेरेंट, अपराधी, ड्रगपुशर्स इत्यादि। इन से कहानी के लिए घटनाएं तो बहुत सी मिलती हैं लेकिन लेखक विचार तत्व को खोजता है। विचार तत्व तथा घटना की संश्लिष्टता से एक काल्पनिक कहानी बनती है, जिसके तमाम टुकड़े सच होते हैं क्योंकि कहानी का तथ्य यह भी है कि उसको आईडेंटिफ़ाई न किया जा सके।

वंदना मुकेशः जी, ताकि उसकी कलात्मकता बरक़रार रहे।

उषाजी: जी, विकसित देशों में भी क्या-क्या नहीं होता? एक घटना मुझे याद आती है, एक इमीग्रंट ऑर्कियोलॉजिस्ट, जो दमे की मरीज़ थी, जो अपने देश लौटना नहीं चाहती थी। उसके मुंह पर सेलो टेप लगा कर हाथ-पैर बांध दिए गए, दम घुटने से वह मर गई। ऐसी घटना को अख़बार में पढ़ कर या टी.वी. पर देख कर लोग भूल जाते हैं लेकिन यही घटना जब कहानी बनती है तो लेखक अपनी कलात्मकता से इसे एक गहरे धरातल पर ले जाता है। जहां उसका विचारतत्व उभर कर सामने आता है।

वंदना मुकेश: अभी हाल में ही आपकी कहानी 'साबिया' पढ़ी, इस कहानी में सच कितना है? क्या आपका कोई निजी अनुभव...

उषाजी: साबिया की कहानी एक साबिया की नहीं है, वो प्रतिनिधित्व करती है एक जन समूह का - एक ख़ास समय में। सत्तर या 80 के दशक में, या इसके बाद भी बहुत दिनों तक, दक्षिण एशियाई लड़कियों पर बहुत रोकथाम थी, आप उनके माँ-बाप को भी दोष तो नहीं दे सकती क्योंकि वे एक तरह की जीवन पद्धति से रहते आए हैं, ऐसे में उनका दुख भी तो कम नहीं था। ऐसे लोग अक्सर मुझसे आ यह सब कह लेते थे क्योंकि मैं उनके समाज की हिस्सा नहीं थी, बात फैलने का डर नहीं था।

वंदना मुकेश: जी, और मैं समझती हूँ कि ऐसी स्थिति में जो उस अनुभव से गुज़र चुका हो और इन कहानियों को पढ़ ले तो वो उसके दिल में उतर जाती हैं।

उषाजी: 1960-70 के आसपास ड्रग, सेक्स (एड्स) और हत्या का आतंक इतना अधिक नहीं था। अब तो आप चार साल की लड़की को भी कहते सुन सकते हैं कि 'आई वांट टू लुक सेक्सी'। ऐसे माँ-बाप कम ही होंगे जो इस बात से काँप नहीं जाएँ कि उनका बच्चा ड्रग लेता है। वैसे लड़कियों के लिए तब लोग ड्रग वगैरह के बारे में उतना नहीं सोचते थे। एड्स के विषय में तो बहुत भ्रांतियां थीं।

वंदना मुकेश: बात में से बात निकलती है, कुछ ऐसा ही हो रहा है हमारी बातचीत में कि मैं जो कुछ पूछना चाहती हूँ उसका उत्तर मुझे टुकड़े-टुकड़े करके मिल रहा है। आप अपनी कहानियों के कथ्य और पात्र चयन के विषय में विस्तार से बताइए।

उषाजी: कहानी के पात्र तो हमारे जीवन से ही आते हैं, मैंने जिन एशियाई महिलाओं को एक इंग्लिश-सेंटर में पढ़ाया, उन सबकी एक सी कहानी थी। किसी के सीने में दर्द हो रहा है, किसी के हाथ टूटे हैं, किसी का मुँह सूजा है, किसी के हस्बेंड रोज़ दूसरी लड़कियों के साथ घूमते हैं वगैरह-वगैरह। और फिर कभी-कभी वो बातें आपको बहुत परेशान करती हैं और इस तरह की घटनाओं में से मुझे मेरे पात्र मिलते रहते हैं।

वंदना मुकेश: उषाजी, आप एक संवेदनशील साहित्यकार हैं, अब मैं आपकी एक कहानी कारावास की विशेष चर्चा करना चाहती हूँ। क्या कहीं न कहीं अनिला के मन में ग्राहम के प्रति प्रेम व्यक्त न कर पाने की वजह ग्राहम का माली होना है?

उषाजी: अनिला तो नहीं, पर ग्राहम को ऐसी फीलिंग हुई, इसलिए वो उसे छोड़कर चला गया। बहुत से लोग समझते हैं कि यह एक औरत के सारी ज़िंदगी रोने की कहानी है। अनिला ने खुद जीवन के निर्णय लिए, सही या ग़लत। उसने कभी कोई शिकायत नहीं की। मैं चाहती तो ग्राहम

को न भी बुलाती, लेकिन इस कहानी में मेरा उद्देश्य मानवीय करुणा के भाव को दर्शाना था। आज साहित्य में, पात्रों में एक अजीब तरह की अमानवीय कठोरता उभर रही है? 'रिश्ते' में भी मेरा उद्देश्य उसी मानवीय संवेदना को बचाने का था। माइकेल (जो एड्स का मरीज़ था) के अनुशासन-प्रिय पिता कर्नल साहब बेटे से मिलना तो दूर रहा उसका नाम लेना भी पाप समझते थे। मां को भी माइकेल से मिलने की इजाज़त नहीं था, जब वह गाड़ी लेकर बाहर जाती तो कर्नल साहब गाड़ी का माइलेज गिन लेते और समझ जाते कि वह माइकेल से मिलने गई थीं; फिर काफ़ी हंगामा करते। हालत बिगड़ने पर माइकेल अस्पताल चला जाता है, यह उसकी आख़िरी रात है। माँ निर्णय लेती हैं, चाहे कर्नल साहब उन्हें छोड़ दें पर वह मरते हुए बेटे को देखने ज़रूर जाएंगी।

वंदना मुकेशः क्या पुरुष संवेदना महिला संवेदना से भिन्न हैं? क्या साहित्य में पुरुष लेखन या महिला लेखन जैसी कोई चीज़ है?

उषाजीः ऐसा तो मुझे नहीं लगता कि कोई एक लाइन खींची जा सकती है, कि यह चीज़ें पुरुष लिख सकते हैं या यह चीज़ें महिलाएँ लिख सकती हैं। लेकिन एक दो जगह मैंने पढ़ा किसी पुरुष लेखक ने कहा कि उसे प्रसव वेदना की तरह फ़ीलिंग होती है। यह एक ऐसा अनुभव है जो औरत को ही होता है। और, ऐसी भी कोई बात नहीं है कि औरतें ज़्यादा संवेदनशील होती है, बहुत से पुरुष भी संवेदनशील होते हैं और कुछ औरतें भी कठोर होती हैं। पर ये चीज़ें बड़ी ट्रेंडी हैं - आती हैं, जाती रहती हैं।

वंदना मुकेशः साहित्य के चोंचले भी कह सकते हैं इन्हें...

उषाजीः इन चीजों को विभाजित करने का एक नतीजा यह हुआ कि साहित्य में औरतों के मुँह से गालियाँ सुनाई पड़ने लग गईं। ये भी बात है कि हम इस बात को परिभाषित कैसे करें? और आप यथार्थ की रचना कर रहीं हैं तो क्या करिएगा?

वंदना मुकेशः आपने कहा कि यथार्थ चित्रण के लिए लेखक गालियों का उपयोग कर रहे हैं, साहित्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए: यथार्थ चित्रण या आदर्श... कलात्मक...

उषाजीः ये लेखक के सामर्थ्य पर निर्भर करता है? एक शब्द होता है 'नंगा', दूसरा होता है 'नंगई'। सड़क पर तमाम साधु आपको नंगे दिख जाऐंगे, कोई देखता है उन्हें? लेकिन कोई आदमी अपना पैंट उतारकर घूमे, तो सब देखेंगे। तो साहित्य में भी यही बात है। साहित्य तो स्वतंत्र अभिव्यक्ति है। बदलाव तो समय-समय पर आते रहते हैं और ज़रूरी भी हैं।

वंदना मुकेशः क्या साहित्य का उद्देश्य समाज को बेहतर बनाना नहीं है? यदि कोई कुछ भी लिख रहा है तो उस पर कहीं तो रोक लगानी होगी।

उषाजीः समाज को बेहतर बनाने के लिए आजकल बहुत से साधु-संत हैं। अगर आप स्वतंत्र चिंतन को कुंठित कर दीजिएगा तो साहित्य में नयापन नहीं आ पाएगा, अंकुर नहीं फूट पाऐंगे। जो समय की कसौटी पर खरा नहीं उतरता वह खुद ही मर जाएगा।

वंदना मुकेशः अच्छा उषाजी, साहित्य में नारी मुक्ति आंदोलन एवं स्त्री-विमर्श के विषय में आप क्या कहेंगी?

उषाजीः नारी मुक्ति आंदोलन में नारी शक्तिकरण ही मुख्य रहा, इसके मूल में क्रोध तथा परंपरा से विद्रोह था किंतु यह पथभ्रष्ट हो गया। इसमें परिवार के विघटन की संभावनाएं बढ़ी। नारी विमर्श ने इन समस्याओं को हर कोण से देखने का प्रयत्न किया।

वंदना मुकेश: आप काफ़ी समय तक पुरवाई में समीक्षाएँ लिखती रही हैं, समीक्षा लेखन से जुड़े अपने कुछ अनुभव बताएँ।

उषाजी: हमने कभी कटु आलेचना नहीं की; समीक्षक का काम बड़ा सहृदय काम है। सभी लेखकों को एक ही कसौटी पर नहीं रख सकते। नये-नये लिखने वालों को प्रोत्साहन चाहिए। आलोचक का काम रास्ता दिखाना है। लेखक को उसकी सामर्थ्य के अनुसार देखना चाहिए। सिर्फ़ बुराई न करे, संतुलन चाहिए। लेखक की संभावनाएँ उजागर करें ताकि वह और अच्छा लिख सके।

वंदना मुकेश: मेरा अंतिम प्रश्न... उभरते कथाकारों और नए साहित्यकारों को आप क्या संदेश देना चाहेंगी।

उषाजीः सच बात तो ये है कि मैं कोई बड़ी कथाकार तो हूँ नहीं। हमारी नई पौध बहुत सक्षम है; वे अपना रास्ता ढूँढ़ लेते हैं। उम्र में बड़ी होने की वजह से यही कह सकती हूँ कि हमारी तरह न करें कि - कभी लिखा कभी छोड़ दिया। निरंतरता लेखक की बहुत बड़ी मज़बूती है।

छन्द-सलिला: चौपाई

प्रो मधु चतुर्वेदी
प्रोफ़ेसर
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

वातायनम् के प्रवेशाङ्क में छन्दसलिला स्तम्भ के अन्तर्गत हमने दोहे के छन्द विधान पर चर्चा की थी। आशा है नवदोहाकार उससे लाभान्वित हुए होंगे। इस अङ्क में हम चौपाई के छन्द विधान पर चर्चा करेंगे। प्रयास रहेगा कि बिना किसी जटिलता के यह विधान सभी को समझ आ सके। चौपाई सम मात्रिक छन्द है। इसके चार चरण होते हैं, प्रत्येक चरण में 16 मात्राएं होती हैं (मात्राएं कैसे गिनी जाती हैं यह पिछले अङ्क में बताया जा चुका है)। यह चार चरण या पंक्तियों का समूह है जिसमें दो-दो पंक्तियों में तुकान्त होता है, जैसे:

जय हनुमान ज्ञान गुण सागर।
जय कपीश तिहुँ लोक उजागर।।
रामदूत अतुलित बल धामा।
अंजनिपुत्र पवनसुत नामा।।

इस समूह में चारों पंक्तियों में एक सा तुकान्त आवश्यक नहीं। प्रथम दो पंक्तियों को अर्द्धाली कहा जाता है। चारों चरणों के अन्त में SS या IIS या SII या IIII आता है। चौपाई का प्रारम्भ भी प्रायः दीर्घ मात्रा के साथ ही होता है क्योंकि पूर्ण चरण में सम मात्राओं का उपयोग होता है। यदि कहीं विषम मात्रा लगती है तो साथ ही एक और विषम मात्रा लगा कर उसे सम कर दिया जाता है। जैसे यदि दीर्घ के बाद कहीं लघु आए तो तुरन्त ही एक और लघु का उपयोग कर के उसे सम कर लेना चाहिए। क्योंकि दो लघु मिल कर दीर्घ का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। किन्तु यदि दो त्रिकल एक साथ हों तो इन्हें सम करने की आवश्यकता नहीं है। इन चारों चरणों में मध्य में कहीं भी यति नहीं होती। चरण के अन्त में ही यति होती है (यति यानि विभक्ति या विराम), प्रत्येक चरण की सोलह मात्राओं को चार चौकल या दो अठकल या आठ द्विकल या दो षट्कल+दो द्विकल या चार त्रिकल+एक चौकल किसी भी क्रम में रखा जा सकता है। अब ये समझ लें कि:

चौकल = चार मात्राओं का समूह
अठकल = आठ मात्राओं का समूह
षट्कल = छह मात्राओं का समूह
द्विकल = दो मात्राओं का समूह
त्रिकल = तीन मात्राओं का समूह

अब मैं अपने महाकाव्य देवयानी की अष्टम सर्गप्रवेशिका में प्रयुक्त चौपाई छन्द से एक को उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रही हूँ:

बार-बार कच को दे जीवन।
मान लिया उसको निज ही धन।।
यह उपकार भार है उस पर।
जा न सकेगा मुझ को तज कर।।

आशा है पाठकवृन्द इस विवरण से छन्द के प्राथमिक व मूल विधान से परिचित होकर इससे लाभान्वित होंगे। मिलते हैं अगले अंक में किसी अन्य छन्द के विधान के साथ। तब तक के लिये अनन्त मंगलकामनाएं।

भाषा - एक नदी

डॉ. अशोक बत्रा
सेवानिवृत्त प्राचार्य, हिन्दू कालेज-रोहतक, लेखक, कवि, भाषा और व्याकरण के विशेषज्ञ

भाषा पहाड़ी नदी की तरह जन्म लेती है - अपने रास्ते स्वयं बनाती हुई, कंकड़ों, पत्थरों, चट्टानों को लाँघती-फ़लाँगती हुई - कभी इधर फैलती हुई तो कभी उधर। उसके रास्ते और रूप इतने अनिश्चित होते हैं कि बस एक ही नियम साथ रहता है - कि उसकी धारा सदा नीचे की ओर बहती है। रास्ता जहाँ से भी मिले; बस सुविधा देखो और अभिव्यक्ति के महासमुद्र में समा जाओ।

जब तक उसमें मनमाने विविध रूप रहते हैं, तब तक वह बोली कहलाती है। एक समय आता है, जब उसमें साहित्य लिखा जाता है। उसमें क़ानून, प्रशासन, और ज्ञान-विज्ञान के नियम-उपनियम लिखे जाते हैं। विद्या-अध्ययन किया जाता है। तब भाषा का दायित्व बढ़ जाता है। जहाँ प्रशासन और अध्ययन के लिए स्फटिक जैसी साफ़ और पारदर्शी भाषा चाहिए। वहीं साहित्य के लिए चाहिए सोलह कला-संपन्न ललित भाव-भंगिमा वाली रसमयी भाषा। रस और बोध के दो दो दायित्वों को एक ही भाषा में सँजोने के लिए विद्वानों की सभाएँ होती हैं, परिषदें बैठती हैं। खूब कलरव होता है। वाद-विवाद-संवाद होते हैं। पहाड़ी नदी पर तटकूल बनाए जाते हैं। पक्के घाट बनाए जाते हैं ताकि लोग आकर सुरक्षित और मनोरम स्नान कर सकें। व्याकरण बनता है; और तब भाषा मनमर्जी से चलने की बजाय वैयाकरणों द्वारा निश्चित व्याकरण के अनुशासन से चलने लगती है। ठीक वैसे, जैसे संविधान बनाते भी हम हैं, और उसके अनुशासन में चलते भी हैं। स्वयं के लिए डोर बनाते हैं और उसी डोर से बँध भी जाते हैं।

पर कविता कसमसाने लगती है। वह स्वभाव से वन्या है, इसलिए लावण्या भी है। वह व्याकरण के अनुशासन को धता बताती है। इधर व्याकरण को निर्माता होने का गुमान हो जाता है। वह भूल जाता है कि कविता कामिनी तेरे पाश में बँध कर रहने को विवश नहीं। कविता को छोड़ो, व्याकरण में इतना बूता भी नहीं कि वह भाषा को अपने अनुसार ढाल सके। ठीक वैसे, जैसे तटों में इतनी शक्ति नहीं कि वह नदी की धारा को मोड़ सके। भाषा-नदी बहती तो अपनी ही ऐंठ और अपने ही तेवर में है। व्याकरण उसी लोकभाषा को थोड़ा सजा-सँवार कर नियमबद्ध करता है, लोकगंध को सुरक्षित रखते हुए। कह सकते हैं कि लोक ही किसी भाषा का पट बुनता है। कुछ गणमान्य विद्वानों की संसद उसे सुनिश्चित रूप देती है। उसे लागू करने का काम करते हैं - व्याकरणविद। उन्हें भाषा की पुलिस या कार्यपालिका कह सकते हैं। और अध्यापक भाषा के सिपाही हैं; डंडा फटकारते रहते हैं। कई बार संयोग ऐसा रहता है कि अध्यापक भाषा का मूल संविधान नहीं पढ़ता। वह अपने गुरुजी से या परिवेश से, या साहित्य और अख़बार पढ़कर भाषा को जैसा समझ लेता है, उसी को प्रामाणिक भाषा मान लेता है। अधिकतर अध्यापकों और विद्यार्थियों का काम इसी से सर जाता है। उनका मत है कि भाषा में शुद्धता की बात न करें। शुद्ध तो आजकल न दूध मिलता है, न अन्नजल। यह कहकर वे पल्ला झाड़ लेते हैं। कई बार तो स्थिति बहुत हास्यास्पद हो जाती है। देखने में आया है कि 95 प्रतिशत हिंदी के अध्यापकों के घरों में कोई प्रामाणिक शब्दकोश और व्याकरण-ग्रन्थ तक नहीं हैं। वे ज़रूरत पड़ने पर किससे सलाह लेते हैं? अपने साथी अध्यापकों से नहीं, वहाँ तो गर्दन नीची होती है। आजकल तो मुफ्त का एक गुरु उपलब्ध है; गूगल खोलो, देखो और पल भर में विद्वान! एक बड़ी प्रतियोगिता का एक अभ्यर्थी गूगल को गुरु मानकर तैयारी कर रहा है और पढ़ रहा है वह आलेख, जिसे किसी मैट्रिक-फ़ेल ने पोस्ट किया है। ऐसा नहीं कि गूगल में प्रामाणिक ज्ञान का अभाव हो किंतु सही चयन के लिए भी बुद्धि चाहिए।

पेड़ तुम पेड़ नहीं तुम दर्जी

सुशील शुक्ल
साहित्य अकादमी के बालसाहित्य के लिए पुरस्कृत, तक्षशिला के बाल साहित्य एवं कला केंद्र 'एकतारा' के निदेशक, बाल पत्रिकाओं 'प्लूटो' और 'साइकिल' के संपादक

धूप सिली तो बिखर गई
कतरन-कतरन छायाएँ
पेड़ तुम पेड़ नहीं
तुम दर्जी
मिट्टी सिलकर रंग बनाए
पानी सिल आकाश
मिट्टी-रंग, हवा-पानी को
जोड़ा, दिया तराश
पेड़ तुम पेड़ नहीं तुम दर्जी।

मम्मी ने है खीर बनाई

रोचिका अरुण शर्मा
पुरस्कृत लेखिका

मम्मी ने है खीर बनाई,
क्या मेहमान आए?
छोले चावल और भटूरे,
मुँह में पानी लाए।
बात बताओ जल्दी मुझको, बना ख़ास क्यों खाना?
खाने के डिब्बेमें देती, रोटी ही रोजाना।
लगे कोई त्योहार का दिन, घर को खूब सजाया।
भीनी सी खुशबू है फैली, आँगन क्यों महकाया?
तोरण-बंदनवार लगे हैं,
ख़ास रंगोली डाली।
गमले गेरू से पोते हैं, जैसे हो दीवाली।
पापा क्यों दफ्तर से लौटे,
क्या हड़ताल हुई है?
दादी जी की सज-धज देखो, लगती छुई-मुई है।
दादा-दादी की शादी की,
वर्षगाँठ है आई।
मुसकाये आपस में दोनों,
सब को खीर खिलाई।

कागज और पेड़

अलका सिन्हा
प्रतिष्ठित लेखिका,
'पत्रिका' शृंखलाओं की
प्रस्तोता।

दो अक्षर ही लिखकर क्यों,
फाड़ दिया पन्ना सारा
भूल हुई है तुमसे लेकिन
भुगत रहा यह बेचारा।
क्यों हड़बड़ में गड़बड़ कर दी,
कुछ तो सब्र किया होता
लिख लेते कुछ देर बाद में,
पहले सोच लिया होता।
तुम क्या जानो पेड़ बेचारा
खुद को घायल करता है
बरसों रहता सड़ा-गला तब
पन्ना एक संवरता है।
दो अक्षर पर पेज फाड़ना
पड़ता है मंहगा कितना
एक-एक है पेड़ कीमती,
धरती का सुंदर गहना।
पेड़ कटे तो आंधी-पानी बन जाता है
ये मौसम
पड़ने लगती गरमी भारी, रिमझिम
का संगीत खतम।
कोयल गीत कहां गाएगी, कैसे
मंहकेंगी कलियां
तेज धूप में जरा छांव को तरसेंगी
सूनी गलियां।
टीचर मेरी बतलाती है, जब भी कोई
पेड़ कटा
सोच-समझ लो प्यारे बच्चो, बेकसूर
इक पेड़ कटा।
ये अन्याय न होने देंगे, व्यर्थ फटे
कोई पन्ना
अब तो पेड़ लगाएंगे हम, हरा-भरा
और घना-घना।

वाह चुहिया का नहीं जवाब!

खदर-बदर कर भाग रही है,
इधर-उधर से झांक रही है
मन मर्जी की मालिक जैसे, हम
हों नौकर यही नवाब।
टीवी से सोफे पर भागी, ऊपर-
नीचे दौड़ लगा दी
तुम क्या इससे जीत सकोगे, है
हिम्मत तो भिड़ो जनाब।
महक सूंघकर दौड़ी आती,
कागज-कपड़ा सब ले जाती
यहां छुपाती, वहां छुपाती, खाती
रोटी और कबाब।
रात-रात भर पड़ता पढ़ना,
जिस किताब का पन्ना-पन्ना
तूने उसे कुतर ही डाला, तुझे
मिलेगा खूब सबाब।
अटकाया रोटी का टुकड़ा,
उसमें थोड़ा घी भी चुपड़ा
मगर गंध चूहेदानी की, समझा
देती मेरा हिसाब।

घुटनों की देखभाल

डॉ निखिल कौशिक
ब्रिटेन
नेत्र विशेषज्ञ, और लघु वृत्त चित्रों के निर्माता।

घुटनों की परेशानी केवल सेलेब्रिटीज़ की ही नहीं, मेरे और आप जैसे आम नागरिकों को भी होती है। फिर चाहे आप डिस्को डान्सर, खिलाड़ी, सैर करने या दौड़ने के शौकीन हों, इस सब का आनंद आप बिना तंदुरुस्त घुटनों के नहीं उठा सकते।

घुटनों की बनावट, कार्य क्षमता और इनकी देखरेख

जांघ की हड्डी (फ़ीमर) और टाँग (टिबिया) के बीच, हमारे शारीरिक अस्थिपिंजर का सबसे बड़ा व महत्वपूर्ण जोड़ घुटना है, जिसमें फ़ीमर, टिबिया, फ़िबुला और पटेला (Patella) हड्डियों के साथ साथ उपास्थि (Cartilage), मांसपेशियां (Muscles), स्नायुबंधन (Muscles) और तंत्रिकाएँ (nerves) भी होते हैं।

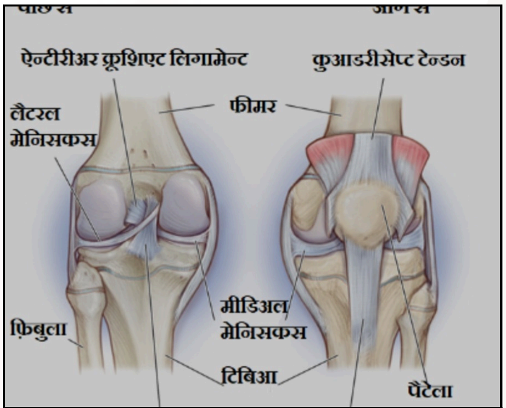

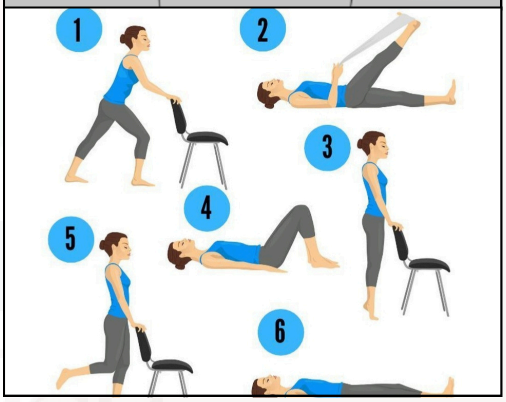

घुटने के विभिन्न अंग इस प्रकार से व्यवस्थित होते हैं कि घुटना एक सीमा में स्वतंत्र रूप से मुड़ घूम सके। यदि घुटनों में किसी भी प्रकार का विकार हो तो दर्द के संग संग हमारे चलने फिरने व उठने बैठने में कठिनाई हो सकती है। यदि घुटने में चोट लग जाए तो दर्द के साथ साथ सूजन, लालिमा, जोड़ का गरम प्रतीत होना, मोड़ने पर किरकिराहट व चटकने जैसी आवाज़ आना किसी विकार के लक्षण हैं। चोट लगने के उपरांत इसके विभिन्न भागों – स्नायुबंधन (ligaments), मेनिस्कस पर हड्डियों पर असर पड़ सकता है, गठिया (Arthritis), ऑस्टियो-आर्थराइटिस, बर्साइटिस और ऑस्टियोपोरोसिस जैसे दुरप्रभाव भी हो सकते हैं। उपर्युक्त लक्षण दिखाई पड़ने पर डाक्टर, फ़िज़ियोथैरेपिस्ट या आपात विभाग में तुरंत जांच करवानी चाहिए।

डाक्टर आपका मुआइना कर, आवश्यकता अनुसार एक्स-रे, अल्ट्रा-साउन्ड, जॉइन्ट ऐस्परैशन, सी.टी. स्कैनस और एम.आर.आई. भी करवा कर आपको उचित उपचार की सलाह दे सकते है। व्यायाम करते समय, विशेषकर दौड़ते समय, उचित जूते, कपड़े और सुरक्षा उपकरण उपयोग में लाएं। संतुलित भोजन और नियमित व्यायाम करें। यूँ ही घुटने हमारे पूरे शरीर का भार उठाते हैं, तिस पर और अधिक वज़न उठाना ठीक नहीं। उकड़ूँ होकर बैठना (स्क्वाट), घुटनों को आगे पीछे घुमाना (लंज), टांगों और पिंडलियों को खींचना (लेग-इक्स्टेन्शन और काफ़ रेज़) जैसे व्यायाम घुटनों के आस-पास की मांसपेशियों को मज़बूत बनाने और इसकी स्थिरता में सुधार करने में मदद कर सकते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अपने शरीर की बात को सुनना और, अगर आपको कोई दर्द महसूस हो, तो रुक जाएं।

याद रखें कि हमारे घुटने हमारे जीवन को चलाने और रोचक बनाने में महत्वपूर्ण है इसलिए उनका ध्यान रखना हमारा कर्तव्य है।

अविस्मरणीय व्यक्ति (वासुरेएनु हितोबितो)

(जापानी कहानी दोप्पो कुनिकिदा; अनुवाद: अनुश्री)

डा. अनुश्री
सहायक प्रोफ़ेसर
जेएनयू

तामा नदी के फुतागो घाट पर नदी पार कर थोड़ा चलने पर मिज़ोनोकुची नामक पुराना कस्बा है। यहाँ यात्रियों के लिए कामेया नामक एक सराय थी। मार्च अभी शुरू ही हुआ था। उस दिन आसमान में घने बादल छाए थे और तेज़ उत्तरी हवाएँ चल रही थीं। प्रायः सुनसान रहने वाला वह कस्बा उस दिन और अधिक वीरान व सूना लग रहा था। छप्पर की ऊँची-नीची छतों पर कल की बर्फ़बारी की बर्फ़ अभी बची हुई थी जो दक्षिणी छज्जों से बूँदें बन हवा में लहराती गिर रही थी। पयाल की चप्पलों के धँसने से बने गड्ढों में भरा पानी भी ठण्ड से काँप रहा था। सूरज डूबते ही लगभग सारी दुकानें बंद हो गयीं। अँधेरे में डूबा शहर अब शान्त हो गया था। केवल कामेया के शोजी दरवाज़े लालटेन की रोशनी से चमक रहे थे। अन्दर कुछ शान्ति थी, शायद आज ज़्यादा यात्री नहीं थे। बस केवल कभी-कभी अँगीठी के किनारे पर सिगार के मोटे पाइप के छूने की आवाज़ आ रही थी।

अचानक शोजी दरवाज़ा खोल एक आदमी धीरे से अन्दर आया। लॉज का मालिक मन ही मन हिसाब लगाने में तल्लीन था। वह नागाहिबाची अँगीठी के सहारे टेक लगाए बैठे हुए था। मालिक ने अभी ठीक से दरवाज़े की ओर देखा भी नहीं था कि तभी सामने मिट्टी के आँगन पर बड़े-बड़े कदम लेते हुए वह आदमी उनकी आँखों के सामने आ खड़ा हुआ। विलायती कपड़े, गेटिस, पयाल की चप्पल, टोपी आदि सैलानियों की पोशाक पहने, उस आदमी की उम्र तीस से दो-तीन वर्ष कुछ कम ही लगी। वह दाएँ हाथ में छाता पकड़े, बाएँ हाथ में एक छोटा सा बैग दबाए था।

'एक रात के लिए कमरा चाहिए।'

मालिक ने मुसाफ़िर के कपड़े देखे, किन्तु कुछ कहा नहीं। तभी अन्दर से ताली बजने की आवाज़ आई।

'ज़रा 6 नंबर देखो,' मालिक तेज़ दहाड़ा।

'आप कहाँ से आए हैं?'

नागाहिबाची अँगीठी के सहारे टेक लगाए मालिक ने बैठे-बैठे ही पूछा।

मुसाफ़िर ने कंधे उचकाते हुए भौंहें सिकोड़ीं। किन्तु थोड़ा मुसकुराते हुए कहा, 'मैं? तोक्यो से।'

'और आप कहाँ जा रहे हैं?'

'हाचिओजी,' कहते हुए वह वहीं बैठ गया और गेटिस के फीते खोलने लगा।

'जनाब, तोक्यो से हाचिओजी के लिए यह रास्ता लेना कुछ अजीब नहीं है क्या!' मालिक ने संदिग्ध नज़रों से उसे देखा और कुछ कहने ही वाले थे कि मुसाफ़िर ने तुरन्त भाँप लिया।

'जी मैं तोक्यो से हूँ ज़रूर, लेकिन आज मैं तोक्यो से नहीं आ रहा। कावासाकी से निकलते-निकलते देर हो जाने के कारण इतना अँधेरा हो गया। ज़रा गरम पानी मिलेगा?'

'अरे, जल्दी से गरम पानी लाओ। आज तो बहुत ठण्ड है। हाचिओजी में तो और भी ठण्ड होगी।'

मालिक के शब्दों में मेहमान-नवाज़ी तो थी, किन्तु व्यवहार में कुछ बेरुख़ी थी। उम्र लगभग साठ वर्ष। मालिक ने मोटे शरीर पर मोटा हान्तेन कोट पहना हुआ था।

ऐसा लग रहा था मानो कन्धों पर सीधा सिर रख दिया गया हो। बड़े से पुष्ट चेहरे पर आँखें कोनों से झुकी हुई थीं। मालिक कुछ कड़े से थे। किन्तु फिर भी उस मुसाफ़िर को वे एक निष्कपट बूढ़े बाबा से लगे।

मुसाफ़िर पैर धो अभी सुखा ही रहा था कि मालिक चिल्लाए, 'इन्हें 7 नंबर में ले जाओ।'

उन्होंने मुसाफ़िर से और कुछ नहीं कहा। उसे जाते हुए भी नहीं देखा। एक काली बिल्ली रसोईघर से निकली और आराम से मालिक की गोद में चढ़कर बैठ गई। मालिक की आँखें बंद थीं, इसलिए यह कहना मुश्किल था कि उन्हें बिल्ली के आने का पता चला भी कि नहीं। कुछ समय बाद उनका दायाँ हाथ तम्बाकू के डिब्बे की ओर बढ़ा और उनकी गोल-मटोल उँगलियाँ तम्बाकू को गोल घुमाने लगीं।

'जब 6 नंबर में पानी पहुँचा दो तो ज़रा 7 नंबर भी देख लेना।'

गोद में लेटी बिल्ली चौंक कर नीचे उतर गई।

'अरे, पगली तुझे थोड़े ही कहा था,' बिल्ली रसोई की ओर भाग गई।

पिलर पर लगी घड़ी ने मंद-मंद 8 बजने का इशारा किया।

'सुनती हो, लगता है किचिजो को नींद आ रही है। जल्दी से आँकावार्मर रज़ाई में डालकर उसे सुला दो। बेचारा।' मालिक ने उनींदी आवाज़ में कहा।

तभी रसोईघर से आवाज़ आई, 'किचिजो तो यहाँ किताब पढ़ रहा है।' यह शायद उनकी पत्नी की आवाज़ थी।

'अच्छा! किचिजो अब सो जाओ। कल सुबह जल्दी उठकर पढ़ना। सुनो, इसके बिस्तर में वार्मर रख दो ज़रा।' 'बस अभी रखती हूँ।' रसोईघर में नौकरानी और मालिक की पत्नी एक दूसरे की ओर देख मुँह बंद कर हँसने लगीं।

'नींद तो इन्हें आ रही है', मालिक की पत्नी कालिख से सने आंका वार्मर में कोयले डालते हुए बड़बड़ाई। कद काठी में नाटी, उम्र यही कोई 55-56 होगी।

हवा से शोजी दरवाज़े खड़खड़ा रहे थे कि तभी टप-टप बूँदें पड़ने की हल्की आवाज़ आने लगी।

'ज़रा दरवाज़े बंद कर देना।' मालिक चिल्लाए और कुंठित होते हुए बड़बड़ाए, 'फिर बरसेगा।'

और तभी हवा तेज़ हुई और बारिश होने लगी। भले ही अब बसंत दूर नहीं था, किन्तु अभी भी ठण्डी बर्फीली हवाएँ मुसाशिनो क्षेत्र को उजाड़ रही थीं। पूरी रात अँधेरे में डूबा मिज़ोनोकुची शहर सिहर रहा था।

आधी रात बीतने के बावजूद 7 नंबर कमरे का लैंप अभी भी तेज जल रहा था। पूरे कामेया में केवल दो व्यक्ति ही अभी जाग रहे थे और वे दोनों कमरे के बीच में एक दूसरे की ओर बैठ बात कर रहे थे। बाहर के तेज़ तूफ़ान से खिड़कियाँ लगातार खड़खड़ा रही थीं।

'इस हाल में तो आपका कल निकल पाना मुश्किल ही लग रहा है,' 6 नंबर में ठहरे व्यक्ति ने दूसरे को देखते हुए कहा।

'कुछ ख़ास काम तो है नहीं, एक दिन और यहाँ रुक सकता हूँ।'

दोनों के चेहरे लाल थे और नाक चमक रही थी। पास की टेबल पर तीन बोतलें रखी थीं और उनके कप में अभी भी कुछ साके थी। दोनों चौकड़ी मार आराम से सुस्ताते हुए सिगरेट पी रहे थे। अँगीठी उनके बीच में थी।

6 नंबर वाला व्यक्ति अपने गद्दीदार मोटे काईमाकी कोट की बाँह से हाथ बाहर निकाल सिगरेट झड़काकर पी रहा था। दोनों बहुत ही आराम से बात कर रहे थे, किन्तु आज वे पहली बार मिले थे। शायद अपने-अपने कमरों से कुछ बात शुरू की और फिर बात से बात निकलती गई। छह नंबर वाला व्यक्ति कुछ अकेलापन महसूस कर रहा था तो बात उसी ने शुरू की थी। विज़िटिंग कार्ड का लेन-देन हुआ। साके मँगाई गई। बातों ने ज़ोर पकड़ा और धीरे-धीरे भाषा में शिष्टता का स्थान बेफ़िक्री ने ले लिया।

7 नंबर वाले व्यक्ति के विज़िटिंग कार्ड पर केवल ओत्सु बेन्जिरो, 6 नंबर वाले व्यक्ति के विज़िटिंग कार्ड पर आकियामा मात्सुनोसुके लिखा था। दोनों ही कार्ड पर पद या ओहदा आदि नहीं था।

ओत्सु विलायती कपड़ों वाला ही आदमी था जो दिन ढले आया था। दुबला पतला, गोरा, छरहरा ओत्सु, आकियामा से बिल्कुल अलग था। उनमें 25-26 वर्षीय आकियामा बड़ा था। गोल भरा हुआ चेहरा, आँखों में अपनापन, होंठों पर मुस्कान। ओत्सु एक बेनाम लेखक, आकियामा एक बेनाम चित्रकार, यह एक अनोखा इत्तफ़ाक ही था कि दोनों दूर गाँव की इस लॉज में आ मिले थे।

'चलो सो जाते हैं, अब तो करने के लिए बुराइयाँ भी नहीं बचीं।'

दोनों ने कला, साहित्य, धर्म आदि से सम्बन्धित अपने-अपने मत रखे। समकालीन साहित्यकार, चित्रकार की जम कर आलोचना की। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि कब 11 बज गए।

'अरे अभी और बात कर सकते हैं। वैसे भी तुम कल नहीं जा रहे। अब तो पूरी रात बात कर सकते हैं।' आकियामा ने मुस्कराते हुए कहा।

'पर बजा कितना है?'

ओत्सु ने वहाँ रखी घड़ी को देखा, 'अरे ! ग्यारह से ऊपर हो गया,'

'अब तो पूरी रात गई समझो' आकियामा ने बेफ़िक्री से कहा। फिर साके के कप की ओर देखते हुए कहा, 'अगर तुम्हें नींद आ रही है तो सो जाओ।'

'नींद तो बिलकुल भी नहीं आ रही। मुझे लगा तुम थक गए होगे। मैं आज कावासाकी से ही देर से निकला और केवल 14 किलोमीटर के करीब ही चला हूँ। इसलिए मैं ठीक हूँ।'

'थका तो मैं भी नहीं हूँ। अगर तुम सो रहे हो तो मैं बस इसे अपने कमरे में ले जाकर पढ़ने का सोच रहा था।' आकियामा ने वहाँ रखे लगभग 10 पन्ने के आलेख को उठाया। उसके आवरण पृष्ठ पर 'अविस्मरणीय व्यक्ति' लिखा था।

'अरे, बिलकुल बेकार है। जैसे तुम चित्रकार पहले पेंसिल से रेखाचित्र बनाते हो न, कुछ वैसा ही है। अभी दूसरों को कुछ समझ नहीं आएगा।' यह कहते हुए भी ओत्सु ने आकियामा के हाथ से आलेख वापिस लेने की कोशिश नहीं की।

आकियामा ने 1-2 पन्ने पलटे और नज़र दौड़ाते हुए कहा, 'वैसे पेंसिल वाले रेखाचित्र भी कम रोचक नहीं होते, मैं इसे पढ़ना चाहूँगा।'

'अच्छा, दो तो ज़रा,' ओत्सु ने आकियामा के हाथ से आलेख किया और खोल के देखने लगा। कुछ देर दोनों के बीच कुछ बात नहीं हुई। बाहर के तूफ़ान की आवाज़ दोनों के कानों में अब साफ पड़ रही थी। तूफ़ान का शोर सुनते हुए ओत्सु अपने लिखे आलेख में तल्लीन हो गया।

'ऐसी रातें ही तो तुम्हारा कार्यक्षेत्र हैं।'

ओत्सु ने शायद आकियामा की बात नहीं सुनी। उसने कुछ जवाब नहीं दिया। वह इस तूफ़ान को सुन रहा था, अपने आलेख को पढ़ रहा था, या फिर कोसों दूर बैठे किसी व्यक्ति के बारे में सोच

रहा था, आकियामा को ओत्सु का चेहरा, उसकी आँखें देख लगा जैसे वह उसका अपना, यानी कि एक चित्रकार का कार्यक्षेत्र हो।

'तुम इसे पढ़ो, बल्कि यह कैसा रहेगा कि मैं तुम्हें इसके बारे में बताऊँ। बोलो, सुनना चाहोगे? वैसे अभी तो यह ख़ाका मात्र ही है। तुम्हें कुछ समझ नहीं आएगा।' ओत्सु ने आकियामा को ऐसे देखा जैसे अभी नींद से जगा हो।

'अगर तुम मुझे विस्तार से सब बता दो तो इससे अच्छा कुछ हो ही नहीं सकता।' कहते हुए आकियामा ने ओत्सु की आँखों में झाँका तो उसकी आँखें कुछ गीली थीं पर उनमें एक अलग ही चमक थी।

'मैं जितना हो सके उतने विस्तार से बताता हूँ। अगर अच्छा न लगे तो बिना किसी हिचकिचाहट के बता देना। और मैं भी बेझिझक बोलूँगा। अजीब है पर अब तो यह लग रहा है कि मैं तुम्हें अपने लेख के बारे में बताना चाहता हूँ।'

आकियामा ने अँगीठी में कोयला डाल, लोहे की केतली में ठण्डी साके की बोतल रखी।

'ज़रूरी नहीं है कि अविस्मरणीय व्यक्ति वे इन्सान हों जिन्हें हम कभी भूल नहीं सकते। यह देखो, मैंने अपने लेख में पहली पंक्ति यही लिखी है।' ओत्सु ने लेख थोड़ा आकियामा की ओर बढ़ाया। 'सबसे पहले मैं इस पंक्ति के बारे में विस्तार में बताना चाहता हूँ। फिर अपने आप ही तुम्हें इस लेख के शीर्षक का अर्थ समझ आ जाएगा। हो सकता है काफ़ी समझ आ भी गया हो।'

'यह सब रहने दो। बस लेख के बारे में बताते जाओ। मैं एक आम पाठक की तरह सुन रहा हूँ। बुरा मत मानना पर ज़रा लेट कर सुनता हूँ।' मुँह में सिगरेट डाल, दाहिने हाथ के सहारे सिर टिका आकियामा लेट गया। वह ओत्सु को देख रहा था और उसकी आँखों में हल्की मुस्कराहट थी।

'माता-पिता, बच्चे, या फिर मित्र, परिचित इत्यादि, के अलावा वे लोग जिनके प्रति हम कृतज्ञ हों जैसे कि अध्यापक या कोई वरिष्ठ 'अविस्मरणीय व्यक्ति' नहीं हो सकते। 'अविस्मरणीय व्यक्ति' वे हैं जिन्हें हम भुला नहीं पाते। यानी, न तो वहाँ कृतज्ञता का बंधन है न ही कर्तव्य की औपचारिकता। वे बिलकुल अजनबी हैं। असल बात कहूँ तो अगर हम उन्हें भूल भी जाएँ तो इसका मतलब यह नहीं कि हम में मानवता या सदाचार की कमी है। फिर भी बस हम उन्हें भुला नहीं पाते। मैं यह तो नहीं कह सकता सभी के जीवन में ऐसे व्यक्ति होंगे, किन्तु मेरे जीवन में तो हैं। हो सकता है तुम भी ऐसे लोगों से ज़रूर मिले हो।

आकियामा ने चुपचाप सिर हिलाया।

'मुझे याद है, मैं 19 साल का था और बसंत का समय था। मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं थी, इसलिए तोक्यो का स्कूल छोड़, मैं घर जा रहा था। यह वापिस लौटते समय की बात है। ओसाका से मैं सेतो अंत: सागर में चलने वाले स्टीमर में चढ़ा। बसंती समुद्र शान्त था। बहुत पहले की बात है इसलिए मुझे यह बिलकुल याद नहीं कि मेरे सह-यात्री कौन थे, स्टीमर का कप्तान कैसा आदमी था, या नाश्ता देने वाला लड़का कैसा दिखता था। शायद ऐसे भी सहयात्री थे जिन्होंने मुझे चाय पिलाई। डेक पर मैंने कई लोगों से बात भी की थी, किन्तु अब कुछ भी याद नहीं।'

'उस समय स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण, मैं कुछ मायूस सा था और अपने विचारों में खोया हुआ था। केवल इतना याद है कि मैं डेक के ऊपर खड़ा अपने भविष्य, मानव के अस्तित्व आदि के बारे में सोच रहा था। उस उम्र में एक युवक का ऐसा सोचना आम बात ही है। दोनों ओर कोहरे में लिपटे टापू मेरी आँखों के सामने से गुज़र रहे थे। बसंत की सुहानी रोशनी शांत समुद्र पर जैसे पिघल कर

घुल रही थी। मैं स्टीमर के दोनों ओर मनमोहक दृश्यों को देख रहा था। स्टीमर मधुर आवाज़ के साथ पानी को चीरता हुआ आगे बढ़ रहा था। पीले सरसों के फूल व गेहूँ की हरी बालियों की ज़री के जाल से सजे टापू कोहरे के भीतर तैरते नज़र आ रहे थे। तभी स्टीमर के दाईं ओर एक टापू दिखा जिसके किनारे से हम एक किलोमीटर भी दूर नहीं थे। मैं रेलिंग के सहारे खड़े हो यूँ ही उस टापू को देख रहा था। पहाड़ की तलहटी के यहाँ-वहाँ नाटे चीड़ के पेड़ झुरमुट बनाए खड़े थे। घर, खेत आदि कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। लहरों के उतरने के बाद सुनसान तट सूर्य की रोशनी में चमक रहा था। नन्ही लहरें जैसे किनारे से खेल रही थीं, एक लम्बी सफ़ेद नंगी तलवार सी चमकती और फिर लुप्त हो जाती। पहाड़ों के ऊपर आसमान में सुनाई दे रही भरदूल की हल्की चहचहाहट से पता चल रहा था कि टापू पर लोग रहते हैं। पिताजी अक्सर कहा करते थे, जहाँ आसमां में उड़े भरदूल, वहाँ खेत खलियान हों भरपूर, मैंने सोचा पहाड़ के दूसरी ओर ज़रूर घर होंगे। तभी मेरी नज़र सूरज में चमकती, उतरती लहरों में खड़े एक आदमी पर पड़ी। वह एक आदमी ही था। कोई बच्चा नहीं था। वह दो-तीन कदम चलता और फिर झुक कर कुछ उठाता और अपनी टोकरी या टब जैसी चीज़ में डालता। सुनसान टापू के छोटे से तट को छानते हुए उस आदमी को मैं देखता रहा। जैसे-जैसे स्टीमर आगे बढ़ा, वह व्यक्ति बस एक काले बिंदु सा हो गया और देखते ही देखते कोहरे में वह किनारा, पहाड़, द्वीप सब ओझल हो गए। उस दिन के बाद आज तक इन दस वर्षों में मैंने कितनी ही बार उस द्वीप पर दिखे उस अनजान व्यक्ति को याद किया होगा। वह मेरे लिए एक 'अविस्मरणीय व्यक्ति' है।

'मेरा अगला 'अविस्मरणीय व्यक्ति' मुझे पाँच साल पहले दिखा जब माता-पिता संग नववर्ष मनाकर मैं अपने छोटे भाई के साथ क्यूशु यात्रा पर निकला। हम कुमामोतो से ओइता जा रहे थे।

'हम सुबह जल्दी ही गेटर और पयाल की सैंडल पहन काफ़ी जोश भरे कुमामोतो से निकले। अभी दिन ढला भी नहीं था कि हम तातेनो नामक कस्बे पहुँचे और वहीं रात गुज़ारी। अगली सुबह सूरज चढ़ने से पहले ही हम तातेनो से माउन्ट आसो कि लिए निकले जिसकी चोटी पर से उसके ज्वालामुखीय सफ़ेद धुएँ को देखने की इच्छा कब से मेरे मन में थी। तुषारी राहों और पुलों को पार कर, रास्ता भटकते हुए आखिर हम 12 बजे तक माउन्ट आसो की चोटी पहुँचे और क्रेटर तक पहुँचते-पहुँचते तो 1 ही बज गया। कुमामोतो अमूमन गरम ही रहता है। उस दिन मौसम साफ़ था और हवा भी नहीं थी। इसलिए सर्दियाँ होने के बावजूद 6 हज़ार फीट पर भी ठण्ड नहीं लग रही थी। क्रेटर से निकल रही भाप माउन्ट ताकादाके की चोटी तक पहुँच जम रही थी। इसके अलावा पहाड़ पर कहीं बर्फ़ नहीं थी। केवल सूखी सफ़ेद घास हवा में लहलहा रही थी। जलकर लाल काली हुईं चट्टानें ज्वालामुखी फटने की दास्ताँ बयाँ कर रही थीं। उस वीरान नज़ारे के बारे में न तो कुछ कहा जा सकता है न ही लिखा जा सकता है। मुझे लगता है उसे कागज़ पर उतारना तुम्हारा काम है।

'हम क्रेटर के हाशिए तक गए और कुछ देर तक चारों ओर से उस विशाल खड्डे को मन भर देखा। किन्तु जब चोटी की ठण्डी हवाएँ असहनीय होने लगीं तो हम क्रेटर से थोड़ा नीचे आ गये। वहाँ आसो जिन्जा के पास एक छोटी सी कुटिया है जहाँ बांचा चाय पी जा सकती है। जल्दी से वहाँ जाकर हमने चावल की मुसुबी खाई जिससे हमें थोड़ा अच्छा महसूस हुआ और हम फिर क्रेटर पहुँच गए।

'तब तक ढलते सूरज में रंगी हिगो क्षेत्र की धुंध लाल दिख रही थी, बिलकुल उन ज्वालामुखी में

जली चट्टानों की तरह। अन्य चोटियों से ऊँची अपनी शंख रूपी चोटी लिए माउन्ट कुजू खड़ा था। उसकी तलहटी के पठार पर मीलों फैली सूखी घास पर ढलता सूरज अपनी रोशनी बिखेर रहा था। हवा एकदम साफ़ होने के कारण दूर घोड़े और उनके सवार दिखाई दे रहे थे। एक छोर से दूसरे छोर तक विस्तृत ज़मीन और आसमान। हमारे पैरों के नीचे ज़मीन में हलचल हुई और गहरा सफ़ेद धुआँ सीधा आसमान की ओर निकला और फिर एकदम से माउन्ट ताकादाके के पास से गुज़र कर गायब हो गया। हमारी आँखों के सामने के दृश्य को देख हम निःशब्द पत्थर की मूर्तियों की तरह खड़े थे। वह समृद्ध था, सुंदर था, या फिर भयावह? ऐसे समय में धरती-आकाश की असीमता को देख, मनुष्य के अस्तित्व के बारे में मन में ख़याल आना स्वाभाविक ही है।'

'किन्तु जिसने सबसे अधिक हमारा ध्यान आकर्षित किया वह थी माउन्ट कुजू और माउन्ट आसो के बीच की घाटी। यह तो समझ में आया कि जैसा सुना था यह विश्व के सबसे पुराने क्रेटर का अवशेष है। ऊँचाई से साफ़ दिख रहा था कि माउन्ट कुजू का पठार एकाएक धँसा हुआ है और मीलों फैली चट्टानें घाटी के पश्चिमी ओर हैं। हालाँकि माउन्ट नान्ताई का क्रेटर अब एक मनोहर एकान्त चूज़ेन्जी झील में परिवर्तित हो गया है, किन्तु यह विशालकाय क्रेटर एक विस्तृत उपजाऊ खेत में बदल गया है। इसके गाँव, वन व गेंहू के खेतों पर शाम का ढलता सूरज शान्त चमक रहा था। उसी घाटी में मियाजी विश्राम स्थान भी था, जहाँ हम लम्बे सफ़र की थकान उतारने के लिए उस रात ठहरने वाले थे।'

'हम दोनों ने तो असल में यह भी बात की कि पहाड़ के ऊपर ही झोंपड़ी में रुककर रात में ज्वालामुखी का नज़ारा देखें, किन्तु आगे की यात्रा का सोचकर हमने मियाजी जाने का ही फैसला किया। चढ़ने के मुकाबले उतरना आसान लगा। हम पहाड़ और घाटी की सूखी घास में बने साँप जैसे टेढ़े-मेढ़े रास्ते को जल्दी-जल्दी पार करने लगे। जैसे-जैसे गाँव पास आ रहा था, हम कई फूस लदे घोड़ों से आगे निकलते जा रहे थे। आसपास डूबते सूरज की किरणों में नहाए घुड़सवार और घोड़े सँकरे पहाड़ी रास्ते से उतर रहे थे। घोड़ों की साज़ पर लगी घंटियाँ हवा में मधुर रस घोल रही थीं। सभी घोड़े फूस से लदे थे। देखने में तलहटी पास ही लग रही थी, किन्तु गाँव आने का नाम ही नहीं ले रहा था। सूरज भी डूबने लगा। हम जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाने लगे। अंत में तो हम लगभग दौड़ ही रहे थे।'

'जब तक गाँव पहुँचे तब तक सूरज डूब चूका था और धुँधलका छाने लगा था। शाम की चहल-पहल कमाल की थी। सभी अपना काम ख़त्म करने में व्यस्त थे। बच्चे बाड़ की छाँव में, या चूल्हे की रोशनी में चमक रहे छज्जे पर हँस, गा और रो रहे थे। यह अवश्य ही गाँव का एक आम दृश्य था, किन्तु आसो के वीरान मैदानों से उतरते ही एकाएक मैंने अपने आप को मानवता के सागर में डूबता पाया, ऐसा भाव-विभोर करने वाला दृश्य कभी नहीं देखा था। हम दोनों थके-हारे अँधेरे रास्ते पर चले जा रहे थे। रास्ता लंबा था किन्तु मियाजी पहुँचने की लालसा में हम बस चले जा रहे थे।'

'हम लोग गाँव से कुछ दूर जंगल या शायद खेत पार कर रहे थे कि सूरज पूरा डूब गया और हमारी परछाईं ज़मीन पर पड़ने लगी। मैंने जब मुड़ कर पश्चिमी आसमान देखा तो आसो के पास की पहाड़ी के दाईं ओर पूर्णिमा का चाँद उस घाटी के गाँवों पर अपनी पानी सी नीली रोशनी बिखेर रहा था जैसे कि वे उसकी अपनी संपत्ति हों। हमने ऊपर की ओर देखा तो दिन में उठ रहा सफ़ेद धुआँ, अब चाँद की रोशनी में नहा, नीले आकाश में उठ रहा था। वह दृश्य स्तंभित करने वाला तो था

किन्तु अत्यन्त मनमोहक भी था। हम एक छोटे से पुल तक पहुँचे। उसकी चौड़ाई लम्बाई से अधिक थी। पुल की रेलिंग के सहारे हमें थोड़ा सुस्ताने का मौका मिला और वहाँ खड़े हम आसमान में धुएँ के बदलते आकार को देखने लगे। दूर गाँव वालों की आवाज़ें हमारे कानों में पड़ने लगीं। तभी जिस रास्ते से हम आए थे, एक खाली सी मालगाड़ी की आवाज़ जंगल में गूँजती हुई, आसमान से टकराती सुनाई दी। गाड़ी धीरे-धीरे पास आ गई।'

'तभी गाड़ी की खड़-खड़ के साथ, घुड़सवारी का गाना गाती हुई एक साफ़ निर्मल आवाज़ पास आने लगी। धुएँ को देखते हुए, सुनने की कोशिश करते हुए मैं अवचेतन मन से उस आवाज़ के और पास आने का इंतज़ार करने लगा। लगा ही था कि कोई दिखा है कि तभी लंबा सुर खींचते हुए गायक 'आसो के नीचे, क्या जगह है यह मियाजी', गाते हुए पुल के पास आ गया जहाँ हम खड़े थे। उस गाने की भावना और गायक की दर्दनाक आवाज़ मेरे दिल को छू गई। कस के लगाम पकड़े उस 24-25 साल के हट्टे- कट्टे नौजवान ने हमारी ओर देखा तक नहीं। मैं खड़ा उसे जाता हुआ देख निहारता रहा। क्यूँकि चाँद की रोशनी उसकी पीठ पर पड़ रही थी, मैं उसे अच्छे से देख नहीं पाया, किन्तु उसके सुडौल शरीर का प्रतिबिम्ब अभी भी मेरी आँखों में है।

मैंने उसे जाते हुए देखा, फिर आसो के उठते धुएँ को देखा। वह नौजवान ही मेरे लिए 'अविस्मरणीय व्यक्ति' है।'

'अगली बार तब की बात है जब मैं शिकोकु के मित्सुगाहामा में रात बिता, स्टीमर का इंतज़ार कर रहा था। मुझे याद है गर्मी अभी शुरू ही हुई थी। मैं सुबह जल्दी ही सराय से निकल गया था। चूँकि मुझे जानकारी थी कि स्टीमर दोपहर को निकलने वाला है, इसलिए मैं बंदरगाह के तट और शहर घूम रहा था। अन्दर की ओर मात्सुयामा शहर होने के कारण इस बंदरगाह की चहल-पहल कुछ अलग ही थी। विशेषकर सुबह के मच्छी बाज़ार की भीड़-भाड़ तो असाधारण थी। खुले साफ़ फैले आसमान में सुबह का सूरज चमक रहा था। सूर्य की किरणें हर एक चीज़, रंग को उभार रही थीं। चहल-पहल भी और अधिक साफ़ दिख रही थी। बाज़ार में हर कहीं से चीखने, पुकारने, खी-खी कर हँसने की आवाज़ें आ रही थीं। बेचने वाले, खरीदने वाले, बूढ़े, जवान, आदमी, औरत सभी मसरूफ़ियत से प्रसन्नचित्त दौड़ते-भागते नज़र आए। खाने की दुकानें लग चुकी थीं। बस केवल अब ग्राहकों का इंतज़ार था। यह तो बताने की ज़रूरत ही नहीं कि वे क्या बेच रहे थे। यहाँ ज्यादातर नाविक, माँझी इत्यादि ही खाने आते। सी-ब्रीम, फ़्लाउन्डर, ईल मछली, अक्तूपस, आदि बिखरे पड़े थे। आवाजाही से कपड़ों की बाँहों या पल्लों से मच्छी की गंध हवा में उड़, नाक तक पहुँच रही थी।'

'मैं इस जगह में बिलकुल अजनबी यात्री था। न तो मैं किसी को जानता था, न ही पहचानता। इस मंज़र ने मेरे अन्दर एक अजीब सी अनुभूति जगाई और मुझे लगा मैं अपने आस-पास की दुनिया को एक नए नज़रिए से देख रहा हूँ। अपने को भुलाकर घूमते हुए, मैं एक शान्त सी जगह पर निकल आया।'

'तभी मेरे कानों में बिवा यंत्र की आवाज़ पड़ी। वहीं दुकान के सामने एक बिवा भिक्षु खड़ा था। उम्र यही कोई 45-46 होगी। चौड़ा चेहरा, मोटा–नाटा शरीर। उसके चेहरे का रंग और आँखों की चमक बिवा की उदासीन आवाज़ से मेल खा रही थी। उसकी स्पष्ट भारी आवाज़, भर्राए तारों की आवाज़ का साथ देती गा रही थी। भीड़-भाड़ में कोई भी उस भिक्षु की ओर ध्यान नहीं दे रहा था। न ही उसकी बिवा सुनने कोई घर से बाहर निकला। सुबह का समय था। सब काम में लगे थे।'

'लेकिन मैं उस भिक्षु को देखता रहा और उसकी बिवा सुनता रहा। वह सँकरी गली, जर्जर छज्जे और वहाँ के व्यस्त लोग। यह पूरा दृश्य भिक्षु और उसकी बिवा से मेल नहीं खा रहा था, किन्तु मुझे लगा कुछ बात तो है। रुँधी हुई बिवा की धुन घरों के बीच फैलती हुई, फेरी वाले की निडर आवाज़ और निहाई की आवाज़ में घुल सी गई थी। बिवा की धुन कीचड़ के बीच एक साफ़ पानी के झरने के समान कल-कल बह रही थी। ऐसा लगा मानो वह धुन आनंदित, हर्षित, व्यस्त लोगों के दिलों के भीतर प्रकृति का एक निर्मल तार छेड़ रही हो। मेरे अविस्मरणीय व्यक्तियों में एक यह बिवा भिक्षु भी है।'

यहाँ तक बात कर ओत्सु ने अपना हस्तलेख नीचे रखा और कुछ देर सोच में डूबा रहा। बाहर का तूफ़ान थमने का नाम ही नहीं ले रहा था। आकियामा उठकर बैठा और उसने पूछा, 'फिर क्या हुआ'।

'अब बस करते हैं। बहुत देर हो गई। अभी तो बहुत लोग हैं।

होक्काइदो के उताशिनाई का खान मजदूर, डालियन की खाड़ी में दिखा एक युवा मछुआरा। बांजो नदी पर एक माँझी जिसके चेहरे पर गूमड़ था। अगर मैं इस हस्तलेख में लिखे एक-एक व्यक्ति की बात करूँ तो सुबह हो जाएगी। बहरहाल मैं यह बताता हूँ कि मैं क्यूँ इन लोगों को भुला नहीं पाया हूँ, या क्यूँ मुझे ये लोग अक्सर याद आते है।

'ज़िंदगी की मुश्किलों से जूझता हुआ, अपने भविष्य की आकांक्षाओं के बोझ से त्रस्त एक अभागा इंसान हूँ मैं।'

'आज इस गहरी रात में इस लालटेन को देखते हुए जीवन के अकेलेपन का अनुभव कर मुझे असहनीय दुःख महसूस हो रहा है। ऐसा जब महसूस होता है, मेरा अहम चूर-चूर हो जाता है और मैं लोगों के बारे में सोचने लगता हूँ। पुरानी बातें या दोस्तों के बारे में सोचता हूँ। और तब अधिकतर जो लोग मेरे ध्यान में आते हैं वे यही हैं। नहीं, मैं केवल इन व्यक्तियों को नहीं देखता, बल्कि पूरे दृश्य के भीतर इन्हें देखता हूँ। वे उस दृश्य का हिस्सा होते हैं। मुझमें और उनमें क्या अंतर है? हम सभी को आसमान के इस पार, धरती के एक कोने में जीवन मिलता है, हम निश्चिन्त हो अपने रास्ते चलते हैं, फिर हाथ पकड़, उस अनन्त ऊपर वाले के पास लौट जाते हैं। मैं जब इन बातों के बारे में सोचता हूँ तो अनायास मेरी आँखों से आँसू बहने लगते हैं। मुझे उस समय लगता है कि न तो कोई अहम है, न ही कोई अन्य। और उन्हें याद कर मैं बहुत ही भावुक हो जाता हूँ।'

'मुझे इस समय सबसे अधिक सुकून और आज़ादी का एहसास होता है। प्रतिष्ठा और संपत्ति के सांसारिक संघर्षों से मुक्त हो, मैं सभी चीज़ों के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हो जाता हूँ।'

'कुछ भी कर मैं इस विषय पर जी भर कर लिखना चाहता हूँ। मेरा यह अटल विश्वास है कि इस दुनिया में ऐसा कोई ज़रूर होगा जो मेरी तरह सोचता होगा।'

इस बात को दो वर्ष बीत गए।

किसी कारणवश ओत्सु तोहोकु क्षेत्र की किसी जगह ठहरा हुआ था। मिज़ोनोकुची की सराय में पहली बार मिले आकियामा से अब कोई पत्राचार नहीं था। वर्ष का वही समय था जब ओत्सु मिज़ोनोकुची में ठहरा था। रात बारिश हुई थी। ओत्सु अकेले मेज़ की ओर बैठ सोच में डूबा हुआ था। दो साल पहले उसने जो 'अविस्मरणीय व्यक्ति' नामक हस्तलेख आकियामा को दिखाया था, वह मेज़ पर पड़ा था। उसमें अब 'कामेया का मालिक' संकलित हो गया था।

आकियामा का नाम नहीं था।

जापानी शब्द के हिंदी में अर्थ

शोजी- लकड़ी का खिसकाने वाला दरवाज़ा
नागाहिबाची- लकड़ी की टेबलनुमा अँगीठी
हान्तेन- गरम कोट जो सामने से खुला होता है
आँका- सोते समय गरमाहट के लिए प्रयोग में आने वाला वार्मर
साके- चावल से बनाने वाली एक शराब
काईमाकी- रज़ाई से मोटे कोट जो अमूमन सोते समय पहने जाते हैं
बांचा- एक प्रकार की जापानी ग्रीन टी
मुसुबी- चावल का पिंड
बिवा- वीणा की तरह दिखने वाला जापानी यंत्र

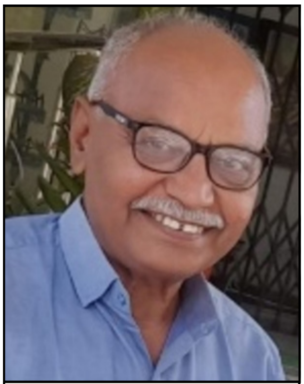

हरिनारायण सिंह 'हरि'
लेखक, प्राध्यापक

लाज न एक्को गत्तर तोरा

लाज न एक्को गत्तर तोरा ठी-ठी-ठी ठिठिआइछऽ हो
जिनगी भर बस कुकरम कयलऽ, सुथ्थर सन बतिआइछऽ हो
भर जिनगी लपटाएल रहलऽ, लूट-पाट शैतानी में
जइसे-तइसे खूब कमयलऽ, रख ई'मान गोरथानी में
अमला-फयदा के बल पाकऽ के'तना तू चिचिआइछऽ हो
करम जे कयलऽ सुन-सुन दुनिया अप्पन जीभ काटइअ हो
अपनो के तनिको नऽ छोड़लऽ, काठ-करेज फाटइअ हो
धन के बल सम्मानित होकऽ के'तना तू चिभलाइछऽ हो
बाप-मतारी के गत कयलऽ, गोतिया के हकमारी हो
बात बना कऽ उप्पर होइछऽ,कयलऽ बस बरियारी हो
झूठ-साँच के खेती कयलऽ, की तनिको पछताइछऽ हो
ओ'खरी पर चढ़ ऊँच बनेला के'तना तू अकुलाएल हो
बनल मियाँ अपने मुँह मिट्ठू, लोग-बाग अन्हुआएल हो
आउर करेजा तान चलइछऽ, तनिको कहाँ लजाइछऽ हो

ई कइसन बेपार

काट-काट हम पेड़ करइछी विकसित गाँव-जेबार
जिनगी जेकरा से फेरा में, ई कइसन बेपार
कुँआ-बाबरी भेल नदारद, पानी-टंकी छत पर
अँगना में माटी के किल्लत, ईंटा-पत्थर सब तर
नद्दी के सब दूह-दाह कऽ हाय! मेटैलक धार
बाबा-बाबू,चच्चा-भइया, बउआ-दाई अलोप
भउजी वाला डोर नेह के टुट्टल केक्कर कोप
पच्छिम के ई हवा बहइअ, पूरब बंद केबाड़
धन-दौलत आ महल अँटारी एक्कर कमी कहाँ हय
बीपी-सूगर, अवसादी मन, बाकिर जरल हिया हय
उप्पर-उप्पर चिक्कन-चाकन, भित्तर भेल उजाड़।

संस्कृति को संवाहकः दसैँ

प्रो लेखप्रसाद निरौला
नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, वाल्मीकि विद्यापीठ, काठमाडौँ

मानव सभ्यताको विकास सँगसँगै आआफ्ना सभ्यता र संस्कृतिहरू विकसित हुँदै जान्छन्। त्यसमा पनि देश र समयअनुसार मानिसका आचारविचारहरू प्रभावित हुने भएकाले लामो समयदेखि चलिआएका रीतिरिवाज तथा चालचलनहरूले सांस्कृतिक स्वरूप ग्रहण गर्न थाल्छन्। यसकारण मानव सभ्यताको परम्परागत विकासले नै संस्कृतिका विभिन्न आयामहरू निर्धारण हुन पुग्छन् । विश्वका विभिन्न परिवेशमा परिस्थितिवश विकसित सांस्कृतिक परम्पराकै निरन्तरताजस्तै नेपाली संस्कृतिभित्र विभिन्न परम्परागत मूल्य र मान्यताहरू विकसित हुँदै आएका छन् ।नेपाली संस्कृतिको मूल आधारका रूपमा वैदिक वाङ्मय, पौराणिक विषयवस्तु तथा सामाजिक परम्पराका आदर्शगत दर्शनहरू रहेका छन्।

जहाँ सामाजिक सद्भाव, पारिवारिक आत्मीयता, परम्परित चाडपर्वप्रतिको आस्था र नैतिक आदर्शजस्ता विषयले प्राथमिकता पाउँछन् अथवा जहाँ रहस्यमय अस्तित्व, देविशक्तिको प्रभाव र प्रकृतिपरक चिन्तनले प्राथमिकता पाउँछन् त्यहीँ आदर्शमय समाजका माध्यमबाट नेपाली संस्कृति जीवन्त बन्दै आएको छ।

नेपाली संस्कृति आफैमा विविधता वा बहुलताले भरिए पनि यीमध्ये हिन्दुहरूले चाहिँ विशेष गरी दसैँ, तिहार, छठ, गुरूपूर्णिमा, श्रावणी, तिज, रामनवमी, कृष्णाष्टमी, माघेसङ्क्रान्ति, एकादशीलगायत प्रत्येक तिथि वा दिनजस्तै कुनै न कुनै चाडपर्व मनाउने गरेका छन्। यस्ता चाडपर्व थालनीका केही निश्चित कारणहरू भए पनि यिनले समाजमा आध्यात्मिक एवम् नैतिक मूल्यको खोजी गर्नुका साथै मातापिता, गुरु, अतिथिलगायत अग्रजप्रतिको श्रद्धा र अनुजप्रतिको सद्भावलाई प्रश्रय दिँदै आएका छन् । यीमध्ये सबैभन्दा बढी प्राथमिकताका साथ मनाइने चाडका रूपमा दसैँलाई लिइन्छ।

दसैँको पर्यायवाची नाम विजयादशमी पनि हो। यसका नौरथा, नवरात्रि र दशहरा आदि अन्य नामसमेत रहेका छन्।

आश्विनशुक्ल पक्षको प्रतिपदादेखि दशमीसम्म लगातार दश दिनको अवधिमा श्रद्धाभक्तिपूर्वक शक्ति को पूजाअर्चना गरिने भएकाले 'दसैँ' शब्दले प्रसिद्धि पाएको छ। दसैँको पहिलो दिन घटस्थापना तथा जमरा राखी शक्तिस्वरूपा भगवती दुर्गाको प्राणप्रतिष्ठासहित पूजाअर्चना गरिन्छ। जौ उमार्ने भएकाले जनबोलीअनुसार 'जमरा' शब्द को प्रयोग गरिए पनि यदाकदा मकै र गहुँलगायतका अन्नसमेतलाई जमरामा मिसाउने प्रचलन रहँदै आएको छ। यसै दिन भगवती दुर्गाकोप्रथमस्वरूप 'शैलपुत्री'को पूजाअर्चना समेत गरिन्छ। यसैगरी द्वितीयादेखि नवमी तिथिसम्म प्रतिदिन ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कुष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्री, महागौरी र सिद्धिदात्रीजस्ता नवदुर्गाका प्रत्येक स्वरूपको क्रमशः पूजाआराधना हुन्छ। साथै कन्याहरूलाई पनि देवीकै स्वरूप मानेर पूजासहित मिष्ठान्न भोजनको व्यवस्था गरिन्छ।

दसैँका सातौँ, आठौँ, नवौँ र दसौँ दिन अझै विशिष्ट मानिन्छन्। तिनमा सातौँ दिनलाई फूलपातीको दिनका रूपमा लिइन्छ। यसदिन देवीको स्वागतकै क्रममा केरा, दारिम, धान, हलेदो, माने, कर्चुर, बेल, अशोक र जयन्तीजस्ता नौ प्रकारका पवित्र वनस्पतिलाई घरभित्र वा अन्य विभिन्न पूजास्थलहरूमा भित्र्याइन्छ। त्यसैगरी गोरखा दरबारको दसैँघरबाट काठमाडौँ ल्याइएको फूलपाती बढाइँसहित हनुमानढोका प्रवेश गराएर पूजाअर्चना गरिन्छ। यस दिन महासरस्वतीका रूपमा कापी, किताब र कलम आदिको तथा रात्रिपख कालरात्रिको समेत विशेष पूजा गर्ने प्रचलन रहेको छ। त्यस्तै दसैँको आठौँ दिनलाई महाष्टमी भनिन्छ।

यस दिन विशेष गरी महागौरी स्वरूपा भगवती दुर्गामाताको पूजाअर्चनाका साथ बलि (वनस्पति वा पशुको बलि) दिने प्रचलनसमेत रहँदै आएको छ। यस दिन नेपालीहरूलेआआफ्नो परम्पराअनुसार स्वादिला परिकारहरू खाने र मनोरञ्जन गर्ने प्रचलन पनि पाइन्छ। दसैंको नवौँ दिनलाई महानवमी भनिन्छ। यस दिन विशेषगरी सिद्धिदात्री तथा स्थापित दुर्गाको प्रतिमामा षोडशोपचार पूजा गरिन्छ। साथै ‘दुर्गासप्तशती’को पाठपारायण तथा हवनलगायत सम्पूर्ण शक्तिपूजा विधिलाई टुङ्ग्याइन्छ। नेपाली सांस्कृतिक परम्परामा दसैंको दसौँ दिन अर्थात् विजयादशमीलाई सबैभन्दा बढी प्राथमिकतामा राखिएको हुन्छ। यस दिन नवरात्रभरि भगवती दुर्गाका विभिन्न रूपको पूजाअर्चना र विसर्जनपश्चात् तिनलाई अर्पण गरिएका पवित्र पहेँला जमराका साथ मान्यजनबाट रातो (कतै सेतो पनि) टीका लगाउँदै आशीर्वाद ग्रहण गरिन्छ। यद्यपि यो परम्परा धेरैजसो नेपालीले पूर्णिमासम्म पनि कायम राख्ने गरेका छन्।

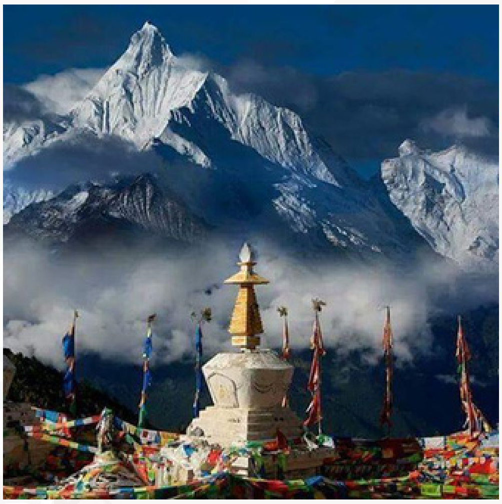

यसरी विजयादशमीलाई दसैँका रूपमा एउटा महोत्सव मान्नुपर्ने प्रमुख कारणमध्ये नवदुर्गाले विभिन्न स्वरूप ग्रहण गर्दै अन्ततः महिषासुरजस्तो क्रूर राक्षसलाई परास्त गरेको खुसीयाली मानिन्छ। अर्थात्, सत्यकी प्रतीक शक्तिस्वरूपा देवीले असत्यमाथि विजय प्राप्त गरेको खुसीयालीस्वरूप दसैँ मनाइन्छ। ‘मार्कण्डेय पुराण’, ‘रामायण’, ‘महाभारत’ र ‘श्रीमद्देवीभागवत पुराण’लगायत विभिन्न ग्रन्थहरूमा वर्णित विजयादशमीसँग गाँसिएका अनेकौँ मिथकीय सन्दर्भहरूले यस विषयमा अझ विस्तृत रूपमा प्रकाश पारेका छन्। यसैकारण मार्कण्डेयपुराण’को देवीमहात्म्यका रूपमा रहेको ‘दुर्गासप्तशती’का माध्यमबाट देवीद्वारा गरिएका विभिन्न कल्याणकारी कार्यहरूको वर्णन र महिषासुर वधलगायतका प्रसङ्गहरू पाठ गरिँदै आएका छन्। भनिन्छ, रामायणकालीन समयमा शारदीय/चैतेदसैँका दिन रामले नौ दिनसम्म देवीअर्चना गरी असत्य वा अन्यायको प्रतीक रावणको वध गरी सीता उद्धारको खुसीयाली मनाएका थिए। त्यस्तै महाभारतकालीन समयमा पनि वनवासबाट फर्किएका पाण्डवले यसै विजयादशमीका दिन पुनः हतियार ग्रहण गरी भगवती दुर्गाको पूजाआराधनापश्चात् युद्ध जित्ने आशीर्वादसमेत मागेका थिए।

हुन त नेपालमा दसैँको थालनी कहिलेदेखि प्रारम्भ भयो भन्ने निश्चित प्रामाणिक आधारहरू पाइँदैनन् तापनि पौराणिक मान्यताअनुसार प्राचीन कालदेखि नै यो परम्परा रहँदै आएको प्रस्ट हुन्छ। आधुनिक नेपालको उदय र एकीकरणपछि निश्चय पनि दसैँले नेपालको राष्ट्रिय चाडका रूपमा मान्यता पाउँदै आयो। यसले नेपालीका पृथक् पृथक् विशेषतालाई आत्मसात् गर्दै विशेष चाडका

रूपमा प्राथमिकता पाउन थाल्यो। खासगरी दशमीका दिन घरको मूलढोकामा माथिपट्टि टीकाजमरा टाँसेर मान्यजनबाट टीका-आशीर्वाद ग्रहण गर्ने दसैँको यस्तो परम्परा नेपालीको मात्र मौलिक परम्परा बन्न पुग्यो। त्यसमा पनि आशीर्वादस्वरूप उच्चारण गरिने यस्ता मन्त्रहरू हरेक नेपालीका जनजिब्रामा अनिवार्यजस्तै टाँसिनुले नेपालीका लागि दसैँ नितान्त मौलिक चाडका रूपमा स्थापित भयो आयुर्द्रोणसुते श्रियो दशरथे शत्रुक्षयो राघवे / ऐश्वर्यं नहुषे गतिश्च पवने मानश्च दुर्योधने
दानं सूर्यसुते (शौर्यं शान्तनवे) बलं हलधरे सत्यञ्च कुन्तीसुते / नं विदुरे भवन्तु भवतां कीर्तिश्च नारायणे।अर्थात् अश्वत्थामाको जस्तो आयु, दशरथको जस्तो श्रीसम्पत्ति, श्रीरामको जस्तो शत्रुविजय गर्ने क्षमता, राजा नहुषको जस्तो ऐश्वर्य, वायुको जस्तो वेग, दुर्योधनको जस्तो स्वाभिमान, भीष्मको जस्तो शूरता वा कर्णको जस्तो दानवीरता, बलरामको जस्तो बलिष्ठता, युधिष्ठिरको जस्तो सत्यता, विदुरको जस्तो विशेष ज्ञानीपन र नारायणको जस्तो कीर्ति तपाईँमा विद्यमान रहुन्।

विश्व का जुनसुकै स्थानमा बसोबास गर्ने नेपाली दसैँमा आआफ्ना किसिमले खुसीयाली साटासाट गर्छन्। दसैँले मान्यजनबाट टीकाजमराका साथ दीर्घायु र समृद्धिको आशीर्वाद ग्रहण गर्ने अवसर मात्र प्रदान नगरी नेपालीका लागि पारिवारिक आत्मीयता र खुसीयालीसमेत प्रदान गरेको छ। त्यस्तै पिङ खेल्ने र मिठोमसिनो परिकार खाने मात्र नभई लुगा, गरगहना र सबारी साधनलगायतका वस्तुहरू जोड्नेजस्ता उल्लासमय गतिविधिहरूसमेत बढाएको छ।

नेपाली संस्कृति र भारतीय संस्कृतिका मूल आधार भनेकै वैदिक एवम् पौराणिक ग्रन्थहरू हुन्। नेपालीले जुनजुन ग्रन्थ र प्रमाणका आधारमा दसैँलाई आफ्नोपनका साथ प्राथमिकता दिँदै आए भारतीयले पनि तिनैतिनै ग्रन्थ र प्रमाणहरूका आधारमा दसैँको उल्लासमय परम्परालाई निरन्तरता दिँदै आए। भारतमा दसैँ शब्दभन्दा पनि ‘दशहरा’ शब्दले प्रसिद्धि पाउँदै गयो। त्यहाँ पनि शारदीय तथा वासन्तीय नवरात्रिमा शक्तिस्वरूपा भगवती दुर्गाकै पूजाअर्चना गरिन्छ।

उही ‘दुर्गासप्तशती’को पाठपारायण र हवन आदि हुने गर्छ। यद्यपि भारतका विभिन्न क्षेत्रअनुसार दशहरामा दुर्गापूजा, रामलीला, व्रत/उपवास, भजन/कीर्तन, डांडिया र गरबा आदि परम्पराहरू विकसित भएका छन्। तिनमा कुम्भकर्ण र मेघनाका साथ रावणदहनको परम्परालाई विशेष प्राथमिकता दिँदै आएका छन्। त्यस्तै विद्यारम्भ र शस्त्रास्त्रपूजा, मिष्ठान्न भोजन, सामाजिक मेलमिलाप र तीर्थाटन आदि प्रक्रियाहरूमा नेपाली र भारतीय परम्परा समान प्रकृतिकै रहेका छन्।

अतः नेपाली तथा भारतीयहरूले जेजस्ता नामबाट दसैँ मनाए पनि यसले सधैँ दैवीशक्तिको आराधना र सत्यको पक्षमा उत्प्रेरित गरेको छ। आफ्नो सभ्यता, संस्कार र आस्थालाई जोगाउनमा मद्दत पुर्‍याएको छ। साथै पारिवारिक मिलन, खुसीयाली र मनोरञ्जनमा आधारित जीवन पद्धतिमा जोड दिने दसैँ आफैमा धार्मिक, सांस्कृतिक र सामाजिक एकताको संवाहक बनेको।

मिंजर मेला चंबा

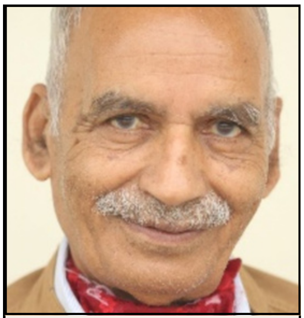

प्रो गंगा राम राजी
सेवा निवृत्त प्राध्यापक, 32 कहानी संग्रहों और 17 उपन्यासों के बहुपुरस्कृत लेखक, 'एक थी रानी खैरीगढ़ी' पर हिमाचल अकादमी पुरस्कार से सम्मानित।

मिंजर मेला हिमाचल प्रदेश का एक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय मेला है, जो चंबा के राजा की विजय के उपलक्ष्य में मनाया जाता है, जिन्होंने 935 ईस्वी में त्रिगर्त (अब कांगड़ा) के राजा पर विजय प्राप्त की थी। इसका आरंभ श्रावण महीने के दूसरे रविवार को चंबा के ऐतिहासिक चौगान में मिंजर-ध्वज फहरा कर होता है। सप्ताह तक लगातार चलने वाले इस मेले की घोषणा मिंजर के वितरण से की जाती है जो पुरुषों और महिलाओं के पहने पोशाकों के कुछ हिस्सों पर रेशम की लटकन के रूप में पहनी जाती है। यह लटकन धान और मक्का की कटाई का प्रतीक है जो वर्ष के इस समय के आसपास उनकी उपस्थिति बनाते हैं। यह समृद्धि और खुशी का प्रतीक है, जिसमें लोग धान और मक्का की मालाओं से अतिथियों का स्वागत करते हैं।

मिंजर मेले में कई परंपराएं शामिल हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं: मेले की शुरुआत मिंजर ध्वज फहराने से होती है, मिंजर यात्रा में लोग मिंजर को रावी नदी में प्रवाहित करते हैं।

मेले में सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, जिनमें नृत्य, संगीत और अन्य कार्यक्रम शामिल होते हैं, मिंजर प्रतियोगिता आयोजित की जाती है, जिसमें लोग अपने बनाए मिंजर प्रदर्शित करते हैं।

तीसरे रविवार को उल्लास, रंगीनता और उत्साह अपने अभिविन्यास तक पहुंचते हैं, जब नृत्य करने वाले मंडलियों के साथ रंगीन मिंजर जुलूस, परंपरागत रूप से स्थानीय पोशाक, पुलिस और होम-गार्ड बैंड के साथ पारंपरिक ड्रम बॉटर, अपनी मार्च के लिए अखण्ड चंडी पैलेस से पुलिस लाइन के पास नलहोरा स्थल के लिए शुरू होता है।

मुख्य अतिथि एक नारियल, एक रुपया, एक मौसमी फल और एक मिंजर जो लाल रंग के कपड़े में बंधे होते हैं लोहान नदी में चढ़ाते हैं। पारंपरिक कुंजरी-मल्हार को स्थानीय कलाकारों द्वारा गाया जाता है। सम्मानित और उत्सव की भावना के रूप में आमंत्रित लोगों के बीच हर किसी को बेटल के पत्ते और इत्र दिया जाता है।

बज्जिका(बृजिका)

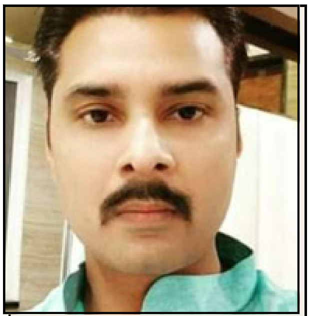

अमिअ भूषण
भारतीय संस्कृति ज्ञान परंपरा अध्येता

भारत में सतत प्रवहमान संस्कृति में ढेरों भाषा भाषी समुदाय बनते गढ़ते और मूर्त रूप लेते रहे हैं। इन्हीं में से एक बृजिका है जिसका लोकप्रिय नाम बज्जिका है। बृजिका भाषा क्षेत्र - गंगा के उत्तरी तट से लेकर हिमालय के दक्षिण हिस्से तक इसका विस्तार रहा है। आज बिहार के वैशाली जिले से लेकर नेपाल के धनुषा जनपद तक बृजिका भाषा चलन में है।

काव्य - संत तालेराम, मंगनी राम, भीखन राम और टेकमन राम की रचनाओं से इस भाषा के शब्द और भावों को जाना जा सकता है। तालेराम लिखते है:

राम भजन करू भाई,
दिनमा बितल हो जाई।
सील संतोस के हेंगा फेरु
ढेला रहे न पाई।
ज्ञान के खुरपी हाथ में लेलु,
सोर रहे न पाई।
उलट पलट के एतना जोतु,
अ बहुबिधि नेह लगाई।
कहे ताले सुनु गिरिधर,
दिनमा बितल हो जाए।
हे राम भजन से सब बन जाए..

इस काव्य में मोक्ष मुक्ति और आत्म कल्याण का संदेश है। यहाँ की संस्कृति पर राम और सीता का भी अतिशय प्रभाव है। यहाँ के उत्सव, पर्व और संस्कार गीत बिना इनके अधूरे है। विवाह का हर विधान राम सीता पर आधारित गीत के बोलों के साथ ही संपन्न होता है। इस पावन बेला पर मटकोर उत्सव में महिलाएँ कुछ ऐसे गीत गाती हैं:

कहवाँ के पीअर माटी
कहा के कोदाल हे
सीता के सात सहेलिया
माटी कोरे जाए हे।

जबकि मंडप पर चुमावन विधि के दौरान कुछ ऐसे पद गाये जाते हैं: सिया रघुवर के आज चुमाउ हे सखि...

वहीं विवाह लगन गीत के बोल कुछ इस प्रकार से होते है:

एक बेर बोलू सीताराम लागे अमृत सामान
एक बेर नगरी के लोगवा शुभे हो शुभे
आजु मंगल के दिनवा शुभे हो शुभे ...

इस क्षेत्र के रामभक्ति धारा के कवियों ने राम सीता विवाह का पूरा विधान स्थानीय लोकभाषाओं में रचा है। किंतु इनके पदों के शब्द विन्यास कुछ ऐसे हैं कि इसके आधार पर इन्हें किसी एक भाषा विशेष की रचना नहीं कह सकते।

लोकोक्तियों की बात करें तो बृजिका इसमें भी समृद्ध है। मसलन 'चलनी दूसलक सुप के जेकरा में अपने बहत्तर गो छेद' अर्थात दोषों से भरे व्यक्ति को दूसरों में दोष ढूँढ़ने निकालने के पूर्व आत्म अवलोकन करना चाहिए। वही एक और प्रसिद्ध लोकोक्ति है - हंसुआ के बियाह में खुरपी के गीत। इसकी तुलना आप हिंदी में बोले बेवक्त की शहनाई से कर सकते हैं।

बात बाल साहित्य की हो तो यहाँ तुकबंदी वाले ढेरों खेल और उसके बोल है। छोटे बच्चे दरवाजों पर बैठ कर "ओक्का-बोक्का तीन तरोक्का, लउआ लाठी चंदन काठी" वाले खेल खेलते रहे है। इसमें अंगुली, अंगूठे, हथेली के संग तेज मानसिक प्रतिक्रियाओं का खेल होता है। इसी प्रकार छोटी लड़कियाँ मुहल्ले में "घो घो रानी केतना पानी” के उच्चारण सहित देशज खेल खेलती रही है। रूठे बच्चों को मनाने के लिए यहाँ चंदा मामा और सोन चिरइआ वाले कई गीत है। ऐसे ही गीत के बोल हैं:

चंदा मामा,
नदिया किनारे आब
सोने के कटोरिया में,
दूधभात, ले ले आब
बउआ के मुँह में घुटुक
और
आ गे सोन चिरइआ
महुआ बिन बिन खो
बउआ जाइअ नोक
मोटरिया ले-ले जो

यहाँ की पीढ़ियाँ इन सबों को सुनते गुनते बड़ी हुई हैं। बच्चों की ज़िद को खेल में और खेल को उनके संपूर्ण विकास के लिए यहाँ गाया सुनाया जाता रहा है। ऐसे गीत बच्चों को दादी, नानी, बुआ, चाची और मौसी सुना कर बहलाती रही है। इनके बोल कुछ ऐसे हैं:

ताड़ काटू तरकुन काटू,
काटू बन खाजा
बउआ लेल रजाई आएल
आके बउआ सुतजा
और
चंदा मामा दूर के
पुआ पकावे गुड़ के
अपने खाए थाली में,
बउआ के देबे प्याली में
प्याली गेलई फूट,
बउआ गेलई रूठ।

बृजिका की अपनी लिपि कैथी के शब्द और अंक देवनागरी लिपि से बहुत कुछ साम्यता लिए हुए हैं। बोली अथवा भाषा - यह प्रश्न अब भी चर्चा में है। इस मामले में महापंडित राहुल सांकृत्यायन वे प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने इसे एक स्वतंत्र भाषा के तौर पर देखा है। उन्होंने अपने ग्रंथ पुरातत्व निबंधावली में इस पर सविस्तार चर्चा की है।

मानक भाषा में लोकभाषा के शब्द जहां इसे अपभ्रंश बनाते हैं, वहीं लोकभाषा के बढ़ते शब्द भंडार और इसका अधिकाधिक चलन इसके स्वतंत्र अस्तित्व का आधार है। भाषाओं के विकास में सर्वाधिक आवश्यक मौलिक साहित्यिक कृतियों का रचा जाना है। दुर्भाग्यवश शब्द भंडारों की वृद्धि को छोड़ बज्जिका भाषा में इसका नितांत अभाव रहा है। यही नहीं, बृजिका का कोई एक मान्यीकरण वाला स्वरूप अभी तक सामने नहीं आया है। नवीन शब्दों के सृजन संग लोक भाषा के अधिकाधिक शब्दों का प्रयोग ही इसे सशक्त पहचान देता है। इस बात को प्रसिद्ध साहित्यकार फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन और शिवपूजन सहाय के साहित्य से भलीभांति समझा जा सकता है। यहाँ तक की सुप्रसिद्ध साहित्यकार रामवृक्ष बेनीपुरी और मृदुला सिन्हा की लेखनी में भी इसका पुट दिखता है।

मौलिकता और उदासीनता का प्रभाव इसके रेडियो और टीवी प्रसारणों पर भी पड़ा है। साहित्य से लेकर बृजि सांस्कृतिक गतिविधियों तक में लगातार ह्रास है। बिहार में मुजफ्फरपुर अवस्थित बिहार विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में बज्जिका भाषा की पढ़ाई शुरू हुई है। वहीं शासकीय पहल पर पहली बार बज्जिका महोत्सव मनाए जाने की तैयारियां भी मूर्त रूप लेने को हैं। कहा गया है - सब जन मिट्ठा देसिला भाषा - देशज भाषा से बढ़कर कर्णप्रिय कुछ भी नहीं होता है। अतः समय रहते शासकीय पहल और सामाजिक प्रयास दोनों दिखने चाहिए। अन्यथा भगवती सीता की भूमि की इस भाषा को उन्ही के समान भूमि में तिरोहित समाहित होते देर नहीं लगेगी।

Artist of the Month: Jeroo Roy

A Parsee from Mumbai, Jeroo first studied art at the JJ School of Art in Mumbai and continued training at the London College of Printing. She then worked as a designer on part-work magazines and as an illustrator of children's books, two of which were both written and illustrated by her. In 1982, Jeroo became involved in the building trade. This meant that the painting aspect of her life was put on hold, whilst she took on the demanding task of establishing herself as a female contractor in what was a tough world to break into.

Jeroo's powerful paintings have moved one and all. The issues painted are about Dowry related deaths, torture and suicides, female infanticide and feticide, FGM (female genital mutilation), selling of the girl child for prostitution and honour related violence. She was interviewed by BBC radio and a BBC Online article, Prick the viewer's nerves, really pricked many people and several institutions. She has recently pained 210 portraits for the forthcoming book, Influential Women, by Zerbanoo Gifford for Asha Foundation.

What attracts the viewer to Jeroo is her positive attitude, which reflects in one of the painting - bloody hands smashing their way out of captivity. At present, Jeroo is working on a series of paintings titled, Working Children and Children under Siege. She is invited by the New Scotland Yard/Home Office to display the relevant paintings at their conferences on Honour Based Violence and Forced Marriages, and at a similar conference at Stockholm. Amnesty International has also featured Jeroo's paintings. At present prints of some of these paintings are on a two year tour in various German cities, an event organised by a women's group Femme de Terre.

jeroo.roy@btinternet.com/Jeroo@childhelplineinternational.org

Contribution of Scientist turned Polymath to the Western perception of Indian Music & Dance

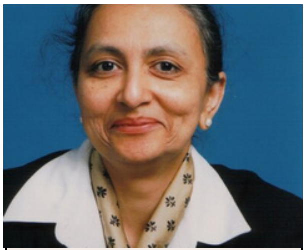

Dr Kusum Pant Joshi
Freelance Editor and Independent legal researcher

It is not easy to uncover a multifaceted personality such as Dr Ananda Kentish Coomaraswamy (AKC). So, after, briefly looking at his family background and education and his transformational Ceylon (or Sri Lanka) trip between 1902-1906, let us focus only on his contribution towards the understanding of Indian music and dance in the West.

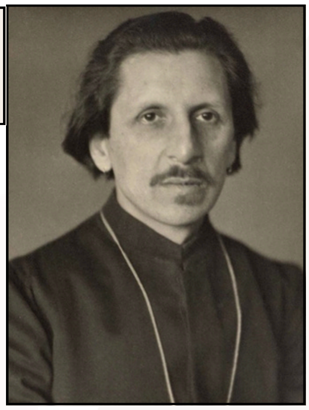

Ananda Kentish Coomaraswamy

Birth, family background and education

AKC was the product of a mixed marriage. His father, Muthu Coomaraswamy (1834-1879), was known for his erudition, accomplishments and wealth. He hailed from afamily or community of hereditary landowners known as the Mudaliars whose ancestors had migrated from South India to Ceylon. His mother, Elizabeth Clay Beebe, was from an English family of Kent. His parents had met and married during one of AKC's father's trips to the UK between 1873-75. The couple left for Ceylon soon after their marriage and it was there, in the city of Colombo, that AKC was born on 22 August 1877.

AKC's father, Muthu Coomaraswamy
AKC's mother, Elizabeth Clay Beebe

Due to the sudden death of AKC's father in 1879 when he was only about two, his mother decided to settle with him in England where her family was based.

As a child, AKC attended an independent school in Gloucestershire. Set in the beautiful Cotswold country side, this school had been set up in 1882 for children aged between 2 to 18 years. For higher education, he went to London where he studied botany and geology at University College. In 1902, he married Ethel Mary Partridge (1872–1952) who was linked with the Arts and

Crafts Movement and is still remembered as the 'Mother ofEnglish Handloom Weaving'. The following year, AKC and his wife sailed to Ceylon to enable AKC to start his assignment as Director of the Mineralogical Survey of Ceylon.

Work in Ceylon (1903-1906)

Though he lived and worked in Ceylon as a scientist, it was while he was there that he developed an awareness and a deep interest in the arts, crafts and culture of the people of the East.

His gifted wife, Ethel, played an important role in his new learning. She travelled with him all over the island and assisted him by photographing and keeping detailed records of every piece of art and craft that drew their attention. Explaining his position, AKC is reported to have said as follows to a group of Tamils in Jaffna in June 1906: "I ... have been through the Western world more thoroughly than any but a very few Tamils and have been brought up entirely as an Englishman and have come out to the East and have felt the ties of national and racial affection and have been drawn towards eastern ideals, feeling them after all to be my own, in a way that few Englishmen could do. Fortified by such considerations I have occasionally ventured to give expression to the impressions I have gathered from such a combined inside and outside point of view ..."

AKC's 1st wife, Ethel Mary Partridge

AKC's exposure between 1902 and 1906 to British rule in Ceylon and the way it appeared to be impacting on its people, transformed him and set him on a path that became a prelude to the work for which he is remembered to this day.

While in Ceylon, he appears have been well received by the local people. This was due not only to his position as an important government officer, but also to the high social and economic position enjoyed by his father's family. At the same time, his Ceylonese and South Indian roots also enabled him to establish rapport with the indigenous people and gain a sympathetic understanding of their culture. Thus, he felt disturbed when he noticed a tendency among the local people of embracing the western or European identity of their colonial masters. To raise an alarm against this trend, he wrote several articles and addressed gatherings to stress the importance of

preserving almost every aspect of Ceylonese life and culture, including its Buddhist buildings, paintings, costumes, religious and agricultural songs and music, literature and drama.

Work after returning to the UK & USA (1906-1917)

AKC's work after returning to England via India in 1906, is highly significant. Due to his English mother, the way she had brought him up and his English education, he was able to connect with some of the leading lights of his times in the field of art, culture and the arts establishment. This enabled him to both gain from and impact on the psyche of those who were part of such circles. Because of his unique position, he became an arch interpreter of Indian culture to the West or a bridge between East and West.

To make his views on the art of the east, he published his Mediaeval Sinhalese Art (1908). James Crouch described this illustrated book, as "an encyclopaedic account of the methods of Sinhalese craftsmen drawn from a study of … and based upon materials collected and observations made jointly with his wife Ethel during their time in Ceylon." But, as he himself has mentioned in the Foreword of his book, it was "written first of all for the Sinhalese people, as a memorial of a period which at present they are not willing to understand." In other words, its purpose was to awaken the people to a realisation of the value of their indigenous traditional arts and culture – something vital and invaluable –of which they seemed to be unaware.

AKC, then moved to studying various aspects of Indian life, art and culture. This resulted in a series of books that included: 'The Indian Craftsman' (1909), Essays in National Idealism" (1909), 'Myths of the Hindus and Buddhists' in 1913 (with Sister Nivedita) and 'Rajput Painting (1916).

In 1913, after venturing into the field of Indian music, AKC published another pioneering book: 'Thirty songs from the Panjab and Kashmir: Recorded by Ratan Devi with Introduction and Translations by Ananda K. Coomaraswamy and a Foreword by Rabindranath Tagore.' The notation of all the songs was included in the book.

Rabindranath Tagore and Coomaraswamy who were both mentioned in the title, need no introduction, but Ratan Devi is presumably almost unknown to most people today. Ratan Devi, originally, Alice Richardson, was a musician who AKC married in 1913. They left for India and while putting up in a 'shikara' (or houseboat) in Srinagar Kashmir, she had started learning Indian classical music from Abdul Rahim of Kapurthala, a princely state in the Punjab.

Describing Abdul Rahim in his book, AKC wrote about Alice's music guru or ustad as follows: "A few words must be said about our Ustad, Abdul Rahim of Kapurthala. Between him and Devi there was formal acceptance of the relation of teacher and pupil, with all due solemnity and offerings. Thereafter Abdul Rahim came with us for about ten weeks to Kashmir, and Devi studied daily, until State orders re-called him from his period of leave, to Kapurthala, where he is a State-pensioned kalant. His ancestors were Brahmans, forcibly converted in the time of Aurangzeb. Like many other Panjabi Musulmans in the same case, the family retain many Hindu customs, e.g., non-remarriage of widows. Abdul Rahim's faith in Hindu gods is as strong as his belief in Islam and Moslem saints, and he sings with equal earnestness of Krishna or Allah, exemplifying the complete fusion of Hindu and Moslem tradition characteristic of so many parts of northern India to day. He is devout and even superstitious; he would hesitate to sing dipak rag , unless in very cold weather."

Based on his own deep study of Indian classical music and interaction with Indian musicians, AKC explained the roots of Indian music in his book. He stressed that Indian music had its origins in the divine hymns composed and sung in the Vedic age as far back as the 2nd millennium before the birth of Christ.He tried to introduce westerners to the beauty and divine connections of Indian classical music. He mentioned the rich diversity and different styles of Indian music.

AKC's 2nd wife Ratan Devi

He talked about the various 'talas' or beats, 'tans' (or fast rhythmic movement in a song), and the 'ragas' ('melody mould' or 'musical patterns') of Indian music and how each raga was to be only sung at specific times of the day or night and that ragas were known to have the power to create a particular mood through a selection of notes and using them in a particular manner. In addition to a book, he wrote detailed articles on Indian Music in 'The Musical Quarterly' of April 1917 and in USA's 'Vanity Fair' of October 1917. He referred to the universal appeal of music and its power to cross borders. After their return from India, Alice presented Indian songs before English audiences in various places under the stage name of Ratan Devi.

Before each recital, AKC would provide an introductory talk after which Ratan Devi would sing a selection of Indian songs. Besides winning praise from Rabindranath Tagore who admits being most pleasantly surprised by her musical talent, Ratan Devi was also praised by G.B. Shaw and W.B. Yeats.

Ratan Devi also won fame as a singer of Indian songs in America after moving there with AKC in 1917. They were helped by a famous but notorious magician, Aleister. Crowley, in launching her career there. Crowley introduced them to some influential Americans and is also reported to have written a poem in praise of Ratan Devi, in USA's 'Vanity Fair'.

AKC's article on Indian Music in 'Vanity Fair, USA, October 1917

Soon, AKC ventured into translating an ancient Indian text on Indian theatre and dance. This was an extraordinary step because by doing so, he was introducing classical Indian dance to audiences in the West as well as to Indians who were becoming westernised due to their English education. This was, moreover, really really groundbreaking work, because in the early 1900s the general understanding of Indian arts and culture, (especially in the UK), was tainted with an anti-colonial bias.

For translating his book on Indian dance and theatre, he partnered with south Indian scholar,Gopala Kristnayya Duggirala. The book's title was 'Abhinaydarpanam' (or The Mirror of Gesture) that had been written by Nandikeshwara. The English translation was an abridged version of a Sanskrit classic, the 'Natya Shastra' (or Dramatic Science) of the 2nd century BC by Bharat Muni. Published by Harvard and Oxford University Press in 1917, the 'Abhinaydarpanam' was interspersed with numerous 'shlokas' or Sanskrit prayers. It also had detailed descriptions of classical Indian dance, music and theatre.

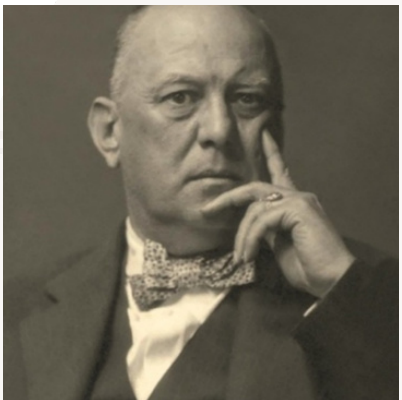

Magician, Aleister Crowley, who wrecked AKC's 2nd marriage

This unique and copiously illustrated publication, showcased the various body postures, head movements and representation of various emotions, forms of life, the nine planets as well as Nature including birds, flowers, insects etc. through human fingers and hands (known as mudras) that were used in Indian classical dance. AKC reprinted this book with improvements a few years later.

After settling in the USA, AKC worked in the Boston Museum of Fine Art where he continued until his death. A scholar and a prolific writer, he went on to literally write thousands of articles, academic papers and published numerous books on various aspects of Indian, South Asian and other eastern cultures.

He intended to move and spend his last days in independent India. His wish remained unfulfilled for he passed away on 9 September 1947 before his wish could be realised.

The Living Mountain: A Fable of Our Times by Amitav Ghosh

Mallika Ramachandran
Independent Legal Researcher and Freelance Editor

The Living Mountain: A Fable of Our Times by Amitav Ghosh is a short work, less than novella length, and explores a range of significant themes including colonialism and the attendant exploitation of people and resources, devaluing of traditional knowledge, de-sacralisation and disenchantment, greed and commercialisation which become a vicious cycle destroying the very 'spirit' of nature, inducing almost irreversible change.

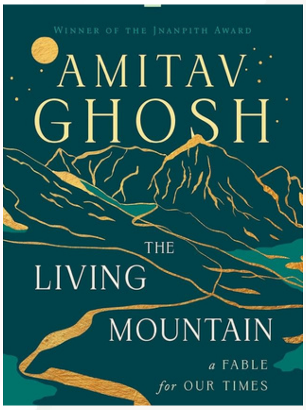

The story opens with the narrator and his online bookclub friend Maansi, two people who only interact on books and know little else of each other, discussing possible themes for the next year's reading. Maansi proposes the 'anthropocene' a term both are unfamiliar with and volunteers to come up with a reading list. After some silence from her for a while, the narrator receives a message about a book she read on the theme being so very different from what she'd expected the 'anthropocene' to be, one which triggered off a tale, part dream, part memory of a story her grandmother had once told her, and it is this she shares with the narrator.

The story is of a people who lived under the benevolent protection of a mountain, the Mahaparbat, which gave them all they needed to live happy, contented lives, and which was treated as sacred and never interfered with. It would protect us and look after us—but only on condition that we told stories about it, and sang about it, and danced for it - but always from a distance. But that was until someone from the people called the Anthropoi arrived, who coveted the treasures of the mountain, dubbed its people 'credulous and benighted' for not having taken them, colonised, enslaved and exploited, belittled their knowledge and practices, setting off a chain from which there could be no return.

The savants of the Anthropoi were unmatched in their wisdom and they decided that since we were not making any use of the mountain's riches, they were fully justified in seizing them and taking whatever

they wished. They were all worthless they said: our ancestral lore, they had had brought nothing but doom upon us. The colonised begin to believe these narratives of their own worthlessness and their reverence for the mountain withers away. By the time the value of their knowledge and their approach is reached, it is seemingly too late. This is a short but powerful and effective story sets one's mind to think on a range of issues (which the author has explored earlier in his nonfiction work - The Nutmeg's Curse). A very relevant book, and one that needs to be not only read but acted on as well. (Illustrations by Devangana Dash).

वातायन
vatayan

Dry your eyes mate!

Shelley Williams

Freelance editor and independent legal researcher

My favourite vegetable is the onion. Without it, hundreds of recipes and most cuisines around the world will be incomplete. Isn't it wonderful that a humble bulb which brings tears to your eyes can become the backbone of so many dishes? Onion is great as a base for so many dishes but I do love them as the main ingredient of a few dishes spanish onions halved, drizzled with olive oil and baked;
spring onions barbecued in foil, baby onions pickled in vinegar, finely chopped red onion, tomato, fresh coriander and green chilli (Kachumber).
The unassuming little bulb is something that most people will find in the vegetable basket. When you go for your weekly shop, spy other people's baskets or the checkouts, and I am willing to bet that most will have a bag of onions. What will we do without the onion? We would have bland curries and even blander soups and stocks. And as for the French Onion Soup. Well, that would be a bowl of tepid water with croutons without the onions.

In fact I must admit that I am a big fan of all vegetables in the Allium family. Other than the onion, it boasts the mighty garlic, chives and leeks. Onion and garlic are the fundamental ingredients in Indian, Chines, Italian, Mexican and so many other cuisines that it's a miracle this family isn't known as the king of vegetables! So next time you are peeling an onion to start a dish, say hoorah for the onion and smile through the tears!

No tears Though there are a number of tricks (see http://www.wikihow.com/Chop-Onions-Without-Tears) to prevent you from crying when chopping onion, my favourite is to wear sunglasses. Other than keeping the enzymes from getting into your eyes, it makes you look cool when cooking!
Medicinal Though it's well known that onions have medicinal qualities - they contain a natural chemical called flavonoid quercetin which apparently protects against heart diseases and cancer - my favourite use whilst at primary school was to sleep with an onion under my armpit. Next day you'll have a fever (without any other symptoms) and you can bunk school!